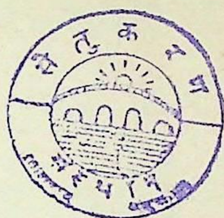


महाभारत पर आधारित उपन्यास :



रामकुमार भ्रमर

अग्रज



अग्रज

मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण थे युधिष्ठिर
सत्य, न्याय और धर्म पर ध्रुव की तरह अटल
इसीलिए धर्मराज कहलाए;
परन्तु आस्थाओं और विश्वास की नीवें हिलती ही रहीं
युधिष्ठिर का समूचा जीवन नियति के बंदी गृह में छटपटाता रहा
जो कभी नहीं चाहा, वही करना पड़ा
युद्ध से विरक्ति थी; पर महासमर की—
भीषण संहार लीला भोगी,
द्रोण की समाप्ति के लिए असत्य भाषण किया
जुआ भी खेलना पड़ गया
कुछ-कुछ नहीं घटा-बीता उनके जीवन में
वह तो राज्य भी नहीं चाहते थे;
पर राज बंधनों ने भी उन्हें जकड़े रखा—
टूट-टूट जाता था उनका वैरागी मन
बिखर-बिखर जाती थीं उनकी भावनाएं
इसी मर्मान्तिक पीड़ा को 'अग्रज' के पृष्ठों पर
सधी हुई कलम से उकेरा है, प्रख्यात उपन्यासकार
रामकुमार भ्रमर ने।

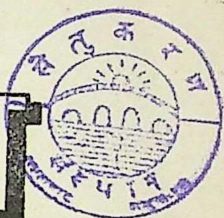


हिन्द पॉकेट बुक्स

कौरव-पाण्डव कथा पर आधारित उपन्यास : ५

रामकुमार भ्रमर

अग्रज



भारत की सर्वप्रथम पॉकेट बुक्स

अग्रज

(उपन्यास)

द्वितीय संस्करण : १९८५

हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड
जी० टी० रोड, शाहदरा,
दिल्ली-११००३२

AGRAJ
(Novel)
RAM KUMAR BHRAMAR

'अग्रज' से 'आहुति' तक

धर्म क्या है और अधर्म कब, कहां, किस तरह हो जाता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जो युग-युगों से मानव सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में विद्वानों, ज्ञानियों और तपस्वियों के बीच चर्चा-परिचर्चा का विषय रहा है। 'महाभारत' के विभिन्न चरित्रों में युधिष्ठिर एक ऐसे चरित्र हैं, जो सामान्य मनुष्य का जन्म पाकर धर्म और कर्म के बीच सन्तुलित भाव से जीवन बिताने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होंने प्रत्येक कर्म का लेखा-जोखा धर्म की कसौटी पर करने की चेष्टा की है। समय-धर्म और शाश्वत-धर्म के बीच सन्तुलन बनाये रखने के प्रयत्न किए हैं। वे ही हैं जो धर्मा-धर्म को लेकर तत्कालीन विद्वानों और ज्ञानियों से बहुविधि तर्क करते हैं, जीवन-मूल्य खोजते हैं, सत्यासत्य के निर्धारण की चेष्टा करते रहते हैं। इस सारी प्रक्रिया के बीच युधिष्ठिर ने संभवतः गहरा कष्ट भोगा है। उनके शेष चारों भाई मुखर हैं। वे क्रोध, आवेश और दुख-सुख की अभिव्यक्ति अपने संवादों से अनेकानेक स्थानों पर कर देते हैं। हर क्रिया, प्रतिक्रिया उनसे उत्तर पा लेती है, किन्तु युधिष्ठिर सबसे अलग, शान्त—एक सीमा तक मौन पात्र हैं ! कई-कई बार तो लगता है कि युधिष्ठिर की यह शान्ति कहीं उनकी कायरता तो नहीं है ?

पर सच यह है कि युधिष्ठिर का मौन ही उनके सबसे अधिक पीड़ा भोगने का प्रमाण है। उनका जीवन 'कौरव-पांडव कथा' की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से तो जुड़ा है, किन्तु वह उस तरह घटनाप्रधान नहीं है, जिस

तरह कर्ण, अर्जुन, दुर्योधन आदि के चरित्र हैं···पहली बार में महसूस होता है कि युधिष्ठिर केवल तर्कातर्क के चरित्र है, किन्तु गहरे पठन-पाठन के बाद लगता है कि युधिष्ठिर की चुप्पी ही उनकी अतिवेदना और वीरत्व है। वह किसी घटना से केवल प्रभावित होकर संवाद-भर की तात्कालिक प्रतिक्रिया देखकर मुक्ति नहीं पा सकते, अपितु उसे लेकर आत्ममंथन का एक लम्बा दौर झेलते हैं··· यह झेलना कितना कष्टदायी है, कितना पीड़ा जनक या किस तरह छलनी कर डालने वाला—केवल युधिष्ठिर की ही तरह शान्त होकर सत्य की तहों तक पहुंचने की चेष्टा करने वाले लोग जान सकते हैं ! अपने समकक्ष चरित्रों की तुलना में युधिष्ठिर सबसे जटिल और सबसे सरल पात्र हैं। उनका ज्ञानमंथन उन्हें जटिल बनाता है, जबकि उनकी सत्यनिष्ठा उन्हें सरल बनाए रखती है ! सरलता और जटिलता को एक साथ निबाहने की ये विलक्षण क्रिया की उन्हें धर्मराज बनाती है।

५३/१४, रामजस रोड, करौलबाग
नयी दिल्ली-११०००५

—रामकुमार भ्रमर

अग्रज

उन सबकी आंखें भय से फैली रह गई थीं। थरथराती पुतलियां दाएं-बाएं घूमतीं और रह-रहकर होंठ सूखने लगते। वे सभी शब्दहीन हो उठे थे। अपने भीतर एक खालीपन महसूस करते हुए। लगता था कि महासमर की वीभत्सता ने उन्हें जीवनहीन कर दिया है। वे मात्र शरीर बनकर रह गए हैं। शरीर भी ऐसा जिसमें न गति है, न शक्ति! कुछ खोखले पुतले हैं, जो रक्तसनी धरती पर दृष्टि-पार तक बिखरी लाशों की फसल पर निगरानी कर रहे हैं।

इस बीच कितनी-कितनी बार उन्होंने एक-दूसरे को नहीं देखा होगा? युधिष्ठिर ने सोचा फिर याद किया—बहुत बार!

किन्तु किसी भी बार, न किसी ने कुछ पूछा, न किसी ने उत्तर दिया। इसके बावजूद वे निरन्तर बोले हैं, निरन्तर प्रश्नोत्तर करते रहे हैं। प्रश्न इतने कि हर टूटे रथ, गिरी ध्वजा और क्षत-विक्षत हो चुकी लाश सिर्फ प्रश्न होकर रह गई है! सड़ती या सड़ चुकी लाशों से उठी दुर्गंध सवालों की एक बरखा बन गई है···आसमान में उड़ते-मंडराते गिद्धों, कौवों और अन्य मांसाहारी पक्षियों के झुंड काले बादलों की तरह उमड़-घुमड़कर धरती पर टूटते हुए···और उन सबके बीच जड़ पुतलों की तरह खड़े पांचों भाई, अनेक साथी, शुभाकांक्षी और समर्थकों की एक भीड़!

कुछ समय पूर्व सन्देशवाहक समाचार लाया था। कुरुराज धृतराष्ट्र और महारानी गांधारी का समाचार—"प्रणाम महात्मन्! नीतिज्ञ संजय ने कहा है कि दुःखी महाराज और महारानी पुत्रों-परिवारजनों की अन्तिम क्रिया करना चाहते हैं···"

पत्थर की शिला जैसे खड़े रहे थे युधिष्ठिर। उनके इर्द-गिर्द भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव व अन्य···सब उन्हीं की तरह शिला बने हुए। सुन रहे

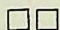
हैं, पर समझ नहीं पा रहे हैं। समझ रहे हैं, किन्तु सोचने की शक्ति नहीं!

आत्मबल जुटाकर युधिष्ठिर ने अपने-आपको संयत किया। मन हुआ था कि एक बार सन्देशवाहक से कहें—"जरा दोहराओ तो, तुमने क्या कहा था?" किन्तु लगा इस तरह स्वयं को कुंठित बुद्धि और कमजोर साबित करेंगे, अतः बोले—"अवश्य पधारें, किन्तु उसके पूर्व हम सब बधु-बांधवों, परिचितों, गुरुजनों, आदि के शव ढूंढ़वा रहे हैं—अच्छा होता कि कुलश्रेष्ठ महाराज धृतराष्ट्र कुछ समय बाद आते। उस समय तक···"

"धर्मात्मा संजय ने भी उनसे यही निवेदन किया था, धर्मराज, पर महाराज और महारानी बहुत दुःखी हैं···इस समय उनकी इच्छा, पूरी करना ही श्रेष्ठ है। मंत्री महोदय ने आपसे विशेष निवेदन करने को कहा है कि राजा-रानी के दुःख को इस समय किसी असुविधा के कारण न बढ़ने दें। यथासंभव उनकी इच्छापूर्ति करने में ही शुभ है। फिर यह भी देव कि महारानी के साथ वीर कौरवों की विधवाएं भी अपने-अपने पतियों के अन्तिम दर्शन करना चाहती हैं।"

एक गहरा श्वांस लिया पांडवपुत्र ने। बोले—"ठीक है दूत! उन्हें आने दो।"

सन्देशवाहक चला गया। युधिष्ठिर ने भाइयों की ओर देखा, बोले—"आओ, पूज्य धृतराष्ट्र के आगमन पूर्व हम लोग बन्धु-बांधवों और संबंधियों के शव खोजें!"



अठारह दिन के क्रूरतम महायुद्ध को बीते हुए केवल दो दिन हुए थे। इन दो दिनों के भीतर-भीतर-हजारों शव खोज लिए गए थे जो दूर-दूरन्त मोर्चों पर कौरव-पांडव संग्राम के भीतर हत हुए। कोई शव ऐसा नहीं था, जिसे शरीर की पूर्णता में पाया गया हो। किसी के हाथ कटे हुए थे, किसी का धड़, किसी-किसी के केवल सिर मिल सके और किसी का शरीर मिला, पर गला-सड़ा हुआ। शव खोजने वालों के हाथ-पैर यहां तक कि शरीर के अनेक हिस्से, और वस्त्र लहू से रंग जाते···लाशों से उठती दुर्गंध उन्हें बेसुधी के हाल तक ला छोड़ती। वे युद्ध में उतने नहीं थके थे, जितने इस संग्राम की समाप्ति और पांडु-पुत्रों की जय के बाद वाली घिनौनी स्थिति में

थकने लगे थे। अनेक योद्धाओं के शरीर बाणों से इस कदर बिंध गए थे कि उन्हें पहचानना कठिन हो चुका था। बहुतों की आंखें या शरीर के अन्य हिस्सों को गिद्धों ने नोचकर उन्हें कंकालों से भी कहीं अधिक वीभत्स और डरावना बना डाला था···

कुरुक्षेत्र के मैदान में ही नहीं उससे आगे-पीछे, सैकड़ों मील तक महासमर की विनाशलीला बिखरी थी और इस सबके परिणाम में हरे-भरे पौधों, फसलों, पेड़ों यहां तक कि पहाड़ियों में भी कालिख बिखर गई थी··· जली लकड़ियों, झरे पत्तों तथा लहू की सूखी पर्तों-पपड़ियों से भरी भूमि देखने वाले का दिल दहला देती···पर अग्रज का आदेश था—"बंधु-बांधवों की अन्त्य क्रिया के लिए उन सभी के शव एक स्थान पर लाए जाने आवश्यक हैं!"

अग्रज—युधिष्ठिर!

आदेशपालन में भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और बची-खुची पांडव सेना के अनेक सैनिक या योद्धा जहां तहां जा पहुंचे थे···रणभूमि के उस भयानक श्मशान में शवों की खोज चल रही थी। लाशें खींचते हुए या जैसे-तैसे उठाए हुए उन्हें रथों पर डाला जाता, फिर सारथी उस रथ को गंगा किनारे की ओर ले जाता, जहां युधिष्ठिर, विदुर और कुन्ती उन्हें सिलसिलेवार रखवाते जाते।

कितने-कितने सम्बन्ध शव-स्थिति में नहीं पा लिए गए थे? सैकड़ों! कोई किसीका बहनोई था, किसी का शाला, किसीका पौत्र, किसीका पुत्र··· ऐसे जैसे इन्द्रधनुषी रंगों और हजारों आकार-प्रकारों की मणियों से युक्त एक माला समूचा देश पहने हुए था और इस माला को उस देश के अपने ही हाथों ने मूर्खतावश तोड़ डाला था···सब मनके बिखर गए थे, सब टूट-फूट चुके थे, सब अपना व्यक्तित्व खो चुके थे!

जैसे-जैसे लाशों से लदे रथ चारों दिशाओं के मोर्चों से इस निश्चित स्थान पर आते जा रहे थे, वैसे-वैसे युधिष्ठिर को यही लग रहा था···सदा-सर्वदा, जीवन-संसार और व्यवहार पर बोलते रहे युधिष्ठिर सहसा चुप हो रहे थे···लगता था कि हर तर्क व्यर्थ हो गया है, हर सत्य धीमे-धीमे असत्य में बदलता हुआ और हर ज्ञानधारा दृश्य सत्य की गरमी से सूखती, लुप्त

होती हुई !

आकाश की ओर व्यग्र दृष्टि उठती और अकुलाया मन प्रश्न बनकर सूखे गले और तालू से बाहर निकलने के लिए छटपटाने लगता—"हे अनन्त ! कहां है मनुष्य का ज्ञान, विवेक, संवेदना और भावना ? सत्य क्या है और असत्य कौन-सा है ? किस प्राप्ति के लिए हम सब यह करते रहे हैं और किस अप्राप्ति के कारण यह सब हो गया है ?"

किन्तु उत्तर नहीं।

उत्तर के नाम पर चीखते, गुर्राते और कर्ण, कटु ध्वनियां निकालते हुए मांसाहारी पक्षियों का कलरव, पंखों की फड़फड़ाहटें और शवों की बढ़त के साथ-साथ उनका झुंडों में बदलते जाना !

युधिष्ठिर रथ खाली करवाते। शवों को क्रमबद्ध रखवाते फिर चुपचाप एक ओर जा बैठते। प्रहरी नियुक्त कर दिए गए थे···वातावरण में क्रमशः दुर्गन्ध सघन होती जा रही थी। यदा-कदा प्रहरियों का पंछियों पर चीखना, उन्हें शवों पर बैठने से पूर्व भगाने का प्रयत्न करना पांडुपुत्र का ध्यान खींच लेता। एक क्षण के लिए विचारहीन होकर यांत्रिक ढंग से देखते रह जाते फिर गहरा श्वांस लेकर अपने आप में लौटते···मन कभी व्यग्र नहीं होता था उनका। हर स्थिति, वातावरण और व्यवस्था को अपने ज्ञान से वश में रखने का अद्भुत आत्मबल था उनके पास, किन्तु लगता था कि धर्माधर्म के इस युद्ध में यह तिरोहित हो गया है···उसकी जगह उभर आया है—ऐसा रिक्तता-बोध, जिससे न तो विवेक समझौता कर पाता है, न ज्ञान का कोई झोंका जिसे छू पाता है !

मन कहता—"अपने-आपको संयत रखो अजातशत्रु ! तुम इस तरह निष्कर्षहीन तो कभी नहीं रहे ? तब एक साधारण व्यक्ति की तरह अपने-आपको इस तरह व्यथित क्यो पाते हो ?"

"हां, मैं स्वयं को संयत ही रखना चाहता हूं···ये सगे-सम्बन्धी, बन्धु-बांधव, सुख-दुःख सभी कुछ भूल जाना चाहता हूं···स्थितिप्रज्ञ भाव से सब कुछ सहजता के साथ झेल जाना चाहता हूं···किन्तु ?"

यह किन्तु—उत्तरहीन !

इस किन्तु पर जय पाना होगा !

किस तरह पा सकेंगे ?

"अपने ही भीतर सत्यासत्य का विवेचन करके।" लगा था कि बुद्धि और मन ने संयुक्त स्वर में कहा है—"वही एक मार्ग है ! एकमात्र मार्ग !"

लगा कि सिहर उठे हैं अपने इस आत्म-निर्देश से। इन आत्म-निर्देशों ने युधिष्ठिर को सदा ही सिहराये रखा है। थकाया है, नींद नहीं लेने दी है, कभी-कभी बेचैन कर दिया है !

क्या अब भी इस आत्म-निर्देश के वश होकर फिर से एक महासमर झेलेंगे ! हां ! सत्यासत्य का विवेचन किस महासमर से कम होता है ! लाखों-लाख अदृश्य घाव होते हैं मन-बुद्धि पर, लाखों-खाल बार परस्पर आरोपों के प्रति-प्रहार ! यही सत्यासत्य का विवेचन !

"किन्तु अब तक महासमर ही तो लड़ते आए हैं युधिष्ठिर ! किसी बार अपने ही भाइयों के षड्यंत्रों से बचाव के लिए, किसी बार अधिकार की मांग के नाम पर और किसी बार युद्ध की विभीषिका न हो, इस प्रयत्न में ! और अन्त में यह महाविभीषिका से भरा खिनौना युद्ध !"

युधिष्ठिर ने एक सिहरन महसूस की है···ये सिहरन युद्ध-परिणाम के कारण है, या युद्ध के कारणों से—इस समय निश्चित कर पाना असंभव है ! पर सिहरन हुई है···

तीव्र दुर्गंध के कारण मन मितलियां-सी खाने लगा···अपने मन से हटकर दृश्य से जुड़ गए...कुछेक सैनिक नकुल की सहायता से शवों को रथ से उतार-उतारकर पंक्तिबद्ध लगा रहे थे···रहा नहीं गया था युधिष्ठिर पर। मितलियों पर काबू किया, अकुलाया चेहरा लिए हुए उनके पास जा पहुंचे।

"भइया !" थकी, डूबती-सी आवाज में नकुल ने कहा था—"दुशासन का शव मिल गया है···देखो तो कितना वीभत्स लग रहा है ?" नकुल की आंखों में जितनी पीड़ा थी, उससे कहीं ज्यादा भय और संभवतः उससे भी कहीं अधिक थरथराहट।

युधिष्टिर बोल नहीं सके—भयभीत-से खड़े देखये रहे थे अपने कौरव-बन्धु को !

दुःशासन का शव वीभत्स स्थिति में उनके सामने पड़ा था। दुर्गंध के

झोंके उगलता हुआ···मृत्यु-भय से आंखें फैली हुई थीं। चेहरे का काफी हिस्सा लहू से नहाया हुआ। उसीके साथ उसकी दायीं भुजा लटकी हुई थी···सीने को बीच से फाड़ डाला था भीमसेन ने। उसमें से अंतड़ियां और मांस के लोथड़े बाहर झूल आए थे

सहसा याद हो आया था युधिष्ठिर को ! उन्मत्त भीम ने दुःशासन की छाती फाड़कर दोनों हथेलियों की ओक में उसका लहू भरकर पिया था··· कई अंजुलियां ! क्रूरता और अमानवीयता से भरी इस हरकत को देखकर अनेक कौरव-पांडव सैनिक भाग खड़े हुए थे ! युद्ध ने उन्हें जितना नहीं थकाया था, उतना उस वीभत्स दृश्य ने थका और डरा दिया था ! वे चीख रहे थे ! कोई कह रहा था कि भीम मनुष्य नहीं, राक्षस है ! और किसी की थरथराती आवाज उभर रही थी—"हे ईश्वर ! यह युद्ध नहीं, केवल क्रूरता है ! निर्लज्ज क्रूरता !"

समाचार युद्ध-भूमि में ही मिल गया था युधिष्ठर को। अपनों-परायों की सैकड़ों दृष्टियां आ टिकी थीं उस पल। प्रश्न करती हुई—"क्या यही धर्म-युद्ध लड़ रहे हो, धर्मराज ? इसी तरह शान्ति-आराधना करेंगे वीर पांडव ?"

उत्तर नहीं दे सके थे युधिष्ठिर। बहुत लड़खड़ाते हुए अपने से ही तर्क करना चाहा था, समाधान भी ढूंढ़ लेने का प्रयत्न किया था। जी हुआ था, कह दें—"वह भीमसेन का वह कार्य अमानवीय तो अवश्य है, किन्तु उसका कारण उनकी दुर्दांत प्रतिज्ञा है ! दुःशासन की दुष्टताओं और षड्यंत्रों ने महाबली भीम को इतना आहत कर दिया था कि वह अपने भीतर की मनुष्यता,भावना और संवेदना को भूल गए !"

पर लगा था कि उत्तर अपने ही भीतर रखे रहना होगा। अन्याय का परिष्कार अन्याय से होता है—यह तर्क देना अपने आप में निर्लज्जतापूर्ण दुस्साहस से कम नहीं।

और दुःशासन की क्षत-विक्षत हो चुकी वीभत्स लाश उनके सामने है···लग रहा है कि एक बार फिर वही अपनों-परायों की नजरें पास आ खड़ी हुई हैं, युधिष्ठिर उन दृष्टियों के तर्क बार-बार सुन रहे हैं···उत्तर-हीन हो रहे हैं ! बिना कुछ कहे, दृष्टि हटा ली थी शव से। कतराकर इधर-

उधर देखने लगे। दुर्गन्ध नथुनों में भरी हुई थी, किन्तु अहसास गुम। अहसास शेष रहा था तो केवल परिणाम-पीड़ा का अहसास !

समर जीत लिया है पांडवों ने ? कृष्ण कहते हैं···धर्मयुद्ध !

गला सूख आया। होंठों को थूक से तर करते हुए व्यग्र भाव से पुनः अपनी जगह आ बैठे। नकुल और उनके अनेक साथी रथ को शवों से खाली करके फिर से जा चुके थे···नये शवों की खोज में।

सैकड़ों शव सामने हैं···सब क्षत-विक्षत ! सब वीभत्स ! जिन चेहरों पर दृष्टि ठहरकर, थमी ही रह जाया करती थी···उन्हीं को देखकर मन कांप जाता है।

गान्धारी के सौ पुत्रों में से अनेक शव मिल चुके हैं···कुछ सड़े-गले हुए, कुछ सड़ने की तैयारी में···

और उन्हीं शवों के साथ-साथ मिल चुके हैं···अनेक रथियों, अति-रथियों, महारथियों के शव ! सबके एक-दूसरे से सम्बन्ध, सबकी कहानियां, और सब-के-सब किसी-न-किसी रूप में कौरव-पांडवों से किसी-न-किसी सम्बन्ध में जुड़े रहे !

युधिष्ठिर थकी-सहमी निगाहों से देख रहे हैं···समय धीमे-धीमे सरक रहा है। जैसे-जैसे सरक रहा है, वैसे-वैसे मन विगत की ओर दौड़ रहा है। थाम लेना चाहते हैं। स्वयं पर वश रखने की अद्‌भुत सामर्थ्य रही है युधिष्ठिर में, किन्तु लगता है कि यह सामर्थ्य छिन चुकी···

कुछ समय बाद धृतराष्ट्र, गान्धारी, संजय, विदुर सभी एकसाथ यहां होंने। पीछे-पीछे होंगी विषादग्रस्ता कौरव-पांडव रानियां, सम्बन्धी स्त्रियां ···बहुत थोड़ी सुहागिनें, शेष सभी विधवाएं···

हर आयु, हर पद और हर वंश की विधवाएं···बहुतों के पुत्र गुमे हैं, बहुतों का सुहाग रीत-बीत गया, बहुतों की बेटियां विधवा हुईं···

वे सब युधिष्ठिर के सामने होंगी। सब दृष्टि में प्रश्न भरे होंगी—ऐसे, जैसे पूछ रही हों उनसे—"धर्मज्ञ ! आप तो राजयोगी कहे-माने जाते रहे हैं। ज्ञान और विवेक में साक्षात् धर्मावतार ! न्याय-अन्याय का आपसे अधिक विश्लेषण करने की शक्ति किसी में नहीं ?···तब हम सभी को न्याय दीजिए ?"

. और न्याय भी बहुत तरह, बहुत किस्मों का चाहिएगा उन्हें। युधिष्ठिर ने बेचैन होकर सोचा। पीठ सहारे पर टिकाई। आंखें मूंद लीं···

किन्तु आंखें मूंद लेने से उन निगाहों का बचाव नहीं हो सकेगा ! उन प्रश्नों का उत्तर भी नहीं दिया जा सकेगा जो उन दृष्टियों में होंगे !

मन हुआ था कि कहीं दूर भाग जाएं ! लांछन ही तो मिलेगा—कायर थे युधिष्ठिर ! सत्य का सामना नहीं कर सके ! उस सत्य का तर्क भी नहीं दे सके ! पलायनवादी !

पर कहां जाएंगे भागकर ? इस रक्तरंजित धरती से भाग भी खड़े हों तो मन से कहां भाग सकेंगे ?···यह मन भी क्या कम रक्तरंजित या आहत हैं ?···यह भी चिथड़े-चिथड़े हो चुका है ! हर चिथड़े से प्रश्न जुड़े हैं···हर प्रश्न युधिष्ठिर के लिए ?

तब ?

तब यहीं—इस सबका सामना ही उनकी नियति है !

जबड़े कसकर बुदबुदा उठे थे—"हां ! इस निति से भागूंगा नहीं मैं ! इसलिए कि भाग नहीं सकूंगा !"

शवों से लदा एक और रथ चला आ रहा था···उधर देखने लगे।

□□

"पांचाली !" होंठ दुदबुदाये। थूक का एक घूंट निगला। उठे। घुटनों ने कांपकर साथ देने से इनकार किया था, किन्तु स्वयं को सम्भाल लिया।

रथ पास आ पहुंचा।

द्रौपदी उतरीं। वे युधिष्ठिर की ओर बढ़ आईं। इस तरह जैसे कोई मशीन चली आ रही हो। चेहरा ऐसा लग रहा था जैसे जीवनहीन हो··· पुतलियां स्थिर। युधिष्ठिर पर गड़ी हुईं। होंठ भिंचे।

युधिष्ठिर कुछ बोले नहीं। स्तब्ध-से खड़े देखते रहे।

रथ से अर्जुन और कुछ पांडव सैनिक शव उतार रहे थे—उन शवों को इतनी दूर से पहचान पाना कठिन। युधिष्ठिर ने सोचा !

पर पहचान के लिए बचा ही क्या है ? या तो कौरव पक्ष के लोग होंगे या पांडव पक्ष के। भाई, बन्धु, पूज्य अथवा पुत्र !

दौपदी पास आ पहुंचीं। बोलीं नहीं। टकटकी बांधे हुए पति को देखती

रहीं। यह देखना ?···युधिष्ठिर अधिक व्यग्र हो उठे हैं। दृष्टि कह रही है, कुछ ऐसा है जो पांचाली की आंखों में भी प्रश्न बनकर तैर रहा है।

द्रौपदी के चेहरे पर तनाव था—उससे कहीं अधिक बेबसी और निरीहता का भी। युधिष्ठिर बोले थे—"जानता हूं देवी, तुम्हारे मन में क्या है?···पर जो कुछ तुम्हारे भीतर घट रहा है, वह शेष बचे किस व्यक्ति के भीतर नहीं घट रहा? किसके पुत्र, भाई, बन्धु, सगे-सम्बन्धी इस क्रूरतापूर्ण संग्राम में नहीं मारे गए?···इसलिए अपने-आपको सम्भालो! इस महानाश की सर्जना में हममें से कौन नहीं है जो सम्मिलित नहीं रहा? ···अतः दोष कौन किसे दे सकता है? यह कह पाना असंभव है!"

द्रौपदी ने एक गहरा श्वांस लिया। कुछ बोली नहीं। पति की ओर से दृष्टि हटाई और उस ओर ठहरा दी, जिधर रथ से शव उतारे जा चुके थे ···युधिष्ठिर कभी उन्हें और कभी उस वीभत्स दृश्य को देखते रहे—

सहसा द्रौपदी रो पड़ीं। युधिष्ठिर घबराये हुए से बैठे रह गए। रथ खाली करके अर्जुन उन्हीं की ओर चले आ रहे थे। स्वभावतः अर्जुन की चाल में जितनी गति और गरिमा होती थी, वह गायब। लग रहा था कि अर्जुन चल नहीं रहे हैं—अपने ही भीतर से अपने-आपको वांछित दिशा में धकेलते हुए आगे बढ़ रहे हैं। निरासा उनके हर कदम से बहती हुई। जय पाई है या पराजय? प्रश्न दुविधा भाव से मन-मस्तिष्क को थकाता हुआ।

अर्जुन पास आ पहुंचे। बोले—"बड़े भइया! पांचाली के पांचों पुत्रों के शव आ गए हैं···दुष्ट अश्वत्थामा ने···" कुछ और कहें, तभी ठिठककर चुप हो गए। युधिष्ठिर ने बहुत ठंडी, प्रतिक्रियाहीन दृष्टि से उन्हें देखा था। द्रौपदी पूर्ववत् रो रही थीं···

युधिष्ठिर बोल पड़े थे—"धनंजय! अब यह सब कहना-न-कहना व्यर्थ-सा जान पड़ता हैं कि इस घिनौने युद्ध में किस-किसने अपनी वीरता को लांछित नहीं किया?···किस-किसने युद्ध की मर्यादाएं नहीं तोड़ीं और किस-किसका पौरुष पराक्रम केवल कायर चेष्टा नहीं बन गया?···"

"पर भइया, मन सहज भाव से चलता तो है ही···आपकी तरह स्थितिप्रज्ञ होकर सोच पाना भला हम जैसे व्यक्तियों के लिए कैसे संभव है?···उस पल की पीड़ा आप नहीं समझेंगे देव, जब अश्वत्थामा ने युद्ध के

नियम के विरुद्ध छापा मारकर सोये हुए पांचालों, द्रौपदी-पुत्रों और वीर शिखंडी का संहार किया ! उस निर्मम क्षण की दृश्य कल्पना ही पीड़ा से दहला देती है अग्रज, जबकि अश्वत्थामा और उसके छली साथियों ने निद्रित, अर्धनिद्रित तथा घायल पांडव-पुत्रों की निरीहतापूर्ण हत्या कर डाली ! वे क्षतविक्षत शव मैंने इन बांहों पर उठाये हैं भइया ! द्रौपदी ने कांपते हाथों से उनके लटके सिरों और टूटी बांहों को सम्भाला है···" बोलते-बोलते अर्जुन की आवाज थर्रा उठी थी। लग रहा था कि गांडीव-धारी के विलक्षण धनुष की डोरी थर्रा रही है···युधिष्ठिर चिन्तित हो उठे थे। युद्धांत के उन वीभत्स दृश्यों ने हर आंख को इतना सहमा-डरा दिया था कि मानसिक सन्तुलन लड़खड़ाने लगता था···अर्जुन की आंखों का वह खालीपन देखकर उन्हें भय लगा था कि कहीं पुत्र-शोक से ग्रस्त अर्जुन सन्तुलन न खो बैठें···बोले—"धैर्य रखो, धनंजय ! योद्धा का युद्धारंभ या युद्धांत में इस तरह विचलित होना उसके पराक्रम को कलंकित करता है ! यों भी तो यशोदा नन्दन की मैत्री और ज्ञान से लाभान्वित हुए हो··· तुम्हारा इस तरह शोक करना कुछ अच्छा नहीं लगता !"

अर्जुन ने होंठ भींचे। द्रौपदी की रुलाई सिसकियों में बदल चुकी थी। गला रुंधता हुआ-सा···युधिष्ठिर कहने को कह गए, पर लगा कि उनके अपने भीतर से कुछ झरने लगा है। उनके अपने ही सोच, शब्दों को बहाता हुआ···पलकें इस जोर से झपकी थीं, जैसे पुतलियों और पलकों के बीच कोई चीज लगने लगी हो···अर्जुन या द्रौपदी, युधिष्ठिर की कातरता पढ़ न सकें—इसीलिए चोरों की तरह दृष्टि चुराकर दूसरी ओर देखने लगे।

अर्जुन कह रहे थे—"आर्य ! अभी शिविर के ही उस क्षेत्र में अनेक शव बिखरे हुए हैं···आओ, उन्हें···"

"मुझे क्षमा कर दें, किरीट ! इस पल मेरा मन···"

"तब मैं चलता हूं···" कहकर अर्जुन लौट पड़े थे रथ की ओर। वही ढीली चाल, वही थके पांव···

द्रौपदी कुछ क्षण उन्हें जाते हुए देखती रही, फिर युधिष्ठिर की ओर बिना देखे उठीं और आंचल से आंसू पोंछती हुई शवों की ओर चल पड़ीं।

अर्जुन खाली रथ लेकर जा चुके थे···

युधिष्ठिर ने गरदन मोड़ी देखने लगे···ऐसे जैसे आंखें उनके अपने वश में नहीं हैं···

किन्तु मन भी कहां वश में है ? उन्होंने सोचा। अपनी ही बेबसी पर पीड़ा से हंस पड़ने को मन हो आया—कैसी विचित्र स्थिति है ? सारे जीवन संयत भाव से पल-पल जीवन-जगत के हर प्रश्न पर हजार-हजार पहलुओं से सोचते-समझते रहे युधिष्ठिर की बुद्धि, शरीर, दृष्टि, मन कुछ भी वश में नहीं···सब छिटके हुए। एक होकर भी अलग-अलग।

अभी-अभी जब द्रौपदी को जाते देख रहे थे—तब मन अर्जुन के संवाद से उलझा हुआ था···जिस पल अर्जुन से बोले, उस पल शरीर की सारी जागृत शक्तियां पूरी ताकत से बटोरकर अपने भीतर उमड़ आई शोक की बाढ़ थाम रही थी···कहीं किसी जगह, किसी पल, किसी स्थिति से मन-शरीर के साथ एक होकर जुड़ नहीं पा रहे हैं···! जुड़ने से प्रयत्न में अधिक पीड़ित हो उठते हैं। पीड़ा, सारे विवेक तन्तुओं को पारे की बूंदों जैसा बिखरा देती है···

इन बिखरी बूंदों को समेट पाना असंभव है !

और युधिष्ठिर के लिए ज्ञान का वह बिखराव जुटा पाना असंभव हो उठा है। लगा था कि इस पल भी सोच कुछ और रहे हैं, देख कुछ और रहे हैं और मन की तहों पर कुछ और ही अंकित होता जा रहा है।

तीन जगह, तीन तरह बिखरे हुए युधिष्ठिर।

सोच रहे हैं अपनी बेबस स्थिति पर। आंखें द्रौपदी की ओर जो उस समय तक शवों के उस क्रम में जा पहुंची हैं···बैठ रही हैं···मन की तहों पर अंकित हैं—कुछ देर पहले कह गये अर्जुन के शब्द—

"···पुत्रों के वे क्षत-विक्षत शव मैंने इन बांहों पर उठाए हैं, भइया ! द्रौपदी ने कांपते हाथों से उनके लटके हुए सिरों और टूटी हुई बांहों को सम्भाला है !"

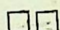
भूल जाना चाहते हैं युधिष्ठिर ! इस पल से अलग केवल आगत के उस क्षण में जुड़ जाना चाहते हैं जब धृतराष्ट्र, गान्धारी और अनेक कुरु-पांडव बिधवाएं, पुत्र-वधुएं यहां आएंगी···

पर नहीं भूल पा रहे। इसके विपरित अर्जुन द्वारा वर्णित घटना से जुड़

रहे हैं···पांच पुत्रों की लाशें ! पांच सलोने पांडव-पुत्र !

आंखें मूंद लीं उन्होंने। बे-तरह थक गए। सिर दोनों हथेलियों के बीच थामा—जड़वत् बैठे रह गए !

लगता था कि पैरों के नीचे की धरती पर जमी लहू की पपड़ी चटक उठी है। इस चटकी हुई पपड़ी के भीतर से वह दृश्य साकार हो उठा है, जिसे उन्होंने संयोगवश उस क्रूर नरसंहार के नाटक से बच निकले एक पात्र से सुना था···



पात्र था—धृष्टद्युम्न का सारथी !

वह हांफ रहा था···बदन से कई जगह लहू रिसता हुआ। आंखें इस तरह फैली हुई थीं, जैसे मृत्यु उसके पीछे ही दौड़ी आ रही हो···शिविर द्वार पर खड़े प्रहरी उसे रोक-थाम सकें, इसके पहले ही वह आंधी की तरह भीतर चला आया था···युधिष्ठिर उस पल व्यूहरचना को लेकर कुछ सेनाधिकारियों से चर्चा कर रहे थे कि तभी वह लड़खड़ाता-कांपता हुआ एक्दम पलंग के पास आ गिरा था !

चौंककर सभी उसे, फिर एक-दूसरे को देखने लगे थे।

सैनिकों ने उसे बांहों से सहारा देकर खड़ा किया···वह उनके सहारे लगभग झूल गया था···सांसों को जैसे-तैसे साधकर बड़बड़ाया था—"बड़ा अनर्थ हुआ राजन् ! घोर अनर्थ ! प्रतापी पांचाल ! महावीर धृष्टद्युम्न और आप के पांचों सुकुमार पुत्र सोते समय ही असावधानी में मारे गए ! दुष्ट···दुष्ट अश्वत्थामा ने इतनी क्रूरता से उन सबकी हत्या की, जिसे देखकर मनुष्य कांप उठे !"

सब भोंचक्के हो रहे···सुनने, समझने और विश्वास करने की चेष्टा करते हुए न शब्द मुंह से निकल सका, न ही अचरज व्यक्त हो पाया। कुछ पलों के लिए बुद्धि कुंठित होकर रह गई थी। मस्तिष्क ठहरा हुआ। मन सिर्फ लहरों की तरह कुलांचें भरता हुआ किन्तु शब्दहीन !

फिर कठिनाई से सहज हो सके थे धर्मराज। पूछा—"शान्त हो, सारथी ! विस्तार से सब कुछ बतलाओ ! मुझे विश्वास नहीं हो रहा है कि

महारथी अश्वत्थामा ऐसा कुकृत्य कर सकते हैं ?···युद्ध नियम के विरुद्ध इस तरह का अनर्थ उनके विचार में आ सकता है !"

एक सैनिक ने जल दिया था सारथीं को। सारथी कुछ सहज हुआ, फिर उसने सब कुछ कह सुनाया···बोला था—"मैं तो इतना ही जानता हूं महाराज कि यह सब कुछ हुआ है, इसी तरह हुआ है···यदि कृतवर्मा असावधान न होते तो संभव है कि मैं भी यह दुःखद समाचार सुनाने के लिए शेष न रहता !"

युधिष्ठिर बहुत अचमचा गए थे, पर स्वयं को संभाले रहे। कहा—"मुझे सब कुछ सुनाओ ! किस-किसने यह नीच कृत्य किया है ?···क्या अश्वत्थामा के अतिरिक्त कोई और···भी था ?"

□□

कृतवर्मा और कृपाचार्य भी थे।

सारथी की उस सूचना-समाचार के बाद बहुतेरी बातें ज्ञात हुई थीं युधिष्ठिर को। यह भी कि किस तरह वह योजना बनी थी और किस तरह राजा दुर्योधन की मृत्यु के बाद पांडव सेना का उत्साह अनायास ही घोर पराजय-बोध से ग्रस्त हो गया था···

बहुत मन हो रहा है—याद न करें, किन्तु लगता है कि चित्रवत् वे चेहरे संयमी युधिष्ठिर के संयम को थप्पड़ मारते तोड़ रहे हैं—एक के बाद एक चेहरा—द्रौपदी और पांडवों के सुकुमार पुत्र···

प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, श्रुतसेन और शतानीक !

लगता है, इस पल भी युद्ध-शिविर के उस कक्ष में सोये हुए हैं, जिस समय कलुषित मन अश्वत्थामा ने रात्रि के अन्धकार का लाभ उठाकर वह छापा मारा था !

युधिष्ठिर अकुला गये···नहीं-नहीं ! याद नहीं करेंगे। वह सब याद करके बहुत कष्ट होगा। आंखों पर वश करना कठिन होगा। मन में बिखरे वेदना के बादल बूंदें बनकर झर पड़ेंगे !

पलकें खोल दीं।

द्रौपदी संभवतः लाशों के बीच बैठी हुई रो रही हैं···युधिष्ठिर देखने लगे, फिर उठ खड़े हुए। निश्चय किया कि द्रौपदी के पास पहुंचकर उन्हें

स्वयं को संयत रखने का उपदेश देंगे···इस तरह संभवतः विगत के उस कष्टपूर्ण स्मरण चित्र से मुक्ति मिलेगी जिसे अर्जुन के पीड़ा-भरे शब्द चित्रित कर गए हैं।

नाक सिकोड़ते और बार-बार दुर्गंध से उबकाइयां खाते मन को साधे हुए द्रौपदी के पास जा पहुंचे।

वह सिसक रही थीं। बाल बिखरे हुए···आंखें सुर्ख और कुछ-कुछ सूजी हुई। पांचों पुत्रों की लाशें उनके सामने पड़ी थीं···

उन्हें देखना नहीं चाहते थे युधिष्ठिर। जानते थे कि देखकर अस्त-व्यस्त हो उठेंगे, पर अनचाहे ही देखने लगे···जैसे-जैसे पुतलियों ने उन शवों के क्षत-विक्षत रूप को देखा—रोम खड़े हो गए। लगा कि पैर कांप रहे हैं···

कितनी घृणा और विद्वेष भाव लेकर उन युवाओं का संहार किया होगा अश्वत्थामा ने उन्होंने सोचा। शवों की दुर्दशा, उन पर जहां-तहां लटके मांस के लोथड़े, रक्तरंजित वस्त्र और फटे-कटे शरीर जैसे उस घृणा की याद दिला रहे हैं···

सारथी से समाचार पाकर जब युधिष्ठिर उस युद्ध शिविर में पहुंचे थे, जहां वह दुर्दांत नाशलीला का तांडव हुआ था, वहां घायल सैनिकों ने चीखते-रोते हुए बहुत कुछ बतलाया···दम तोड़ते उन व्यक्तियों के वर्णन ने उस रात की काली घटना को इस तरह धर्मराज की दृष्टि के सामने उपस्थित कर दिया था, जैसे मूक-जड़ दर्शक की तरह उसके शब्दांश को चित्रवत् देख रहे हों···

कहते हैं कि भीम द्वारा दुर्योधन की समाप्ति के तुरन्त बाद अश्वत्थामा ने बदला लेने की प्रतिज्ञा कर ली थी! कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा की पराजय से बौखलाये हुए एकान्त से उस षड्यंत्र की रचना कर रहे थे! षड्यंत्र में कृष्ण पक्ष के अन्धेरे ने उनका साथ दिया था···

□□

विशाल शिविर। पांडवों की सेना का सबसे बड़ा शिवर था वह। एक ओर कई कक्ष थे चिकित्सालय के। इन कक्षों में युद्ध के दौरान घायल हुए सैनिकों की चिकित्सा चल रही थी, दूसरी ओर विभिन्न कक्षों में

सैनिक सो रहे थे। बीचोंबीच पांडव सेना के महत्त्वपूर्ण योद्धाओं के कक्ष बने हुए थे···इन्हीं में पांडव के पांचों पुत्र और धृष्टद्युम्न, शिखंडी आदि विश्राम कर रहे थे···

काली, बहुत अंधेरी रात्रि। शिविरों में जहां-तहां प्रकाश की व्यवस्था की गई थी, किन्तु विशाल क्षेत्र में बिखरे अनेकानेक शिविरों के बीच का बहुत-सा स्थान अन्धकार से ग्रस्त।

प्रहरी सभी ओर थे, किन्तु घेरे की व्यवस्था करने की परंपरा न थी। युद्ध-नियम था कि रात्रि आरम्भ का संकेत मिलते ही दोनों पक्ष अपने-अपने शिविरों को लौट जायें।

इसी परम्परा से सदियों तक युद्ध हुए थे। इसी तरह होते आये थे। यह एक सैनिकीय मूल्य बन चुका था।

किन्तु कौन जानता था कि मूल्यों के उस विशृंखलन वाले कुरुक्षेत्र युद्ध में नियम या व्यवस्था नहीं, अपितु केवल घृणा, द्वेष, छल, प्रपंच और येन केन प्रकारणे विजयश्री प्राप्त कर लेने का मोह भर रह गया है! पिछले अठारह दिनों सूर्य के प्रकाश में भी तो दोनों ही पक्षों की ओर से कितनी ही बार, कितने ही अवसरों पर कितने ही महारथियों, अतिरथियों और रथियों ने या तो इसी तरह विजय पायी थी या इसी तरह पराजय झेली थी।

पांचालों की बड़ी सेना ने आधी रात गए तक राजा दुर्योधन की मृत्यु पर विजयोत्सव के उत्साह में भरकर अनेक धृष्टतापूर्ण बातें कही थीं, अहंकार से भरे संवाद उछाले थे और अपने पुरुषार्थ-पराक्रम की घोषणाएं की थीं।

अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा अपने सैनिकों के साथ इसी अंधेरे का लाभ उठाते हुए छोटी-छोटी टुकड़ियों में बंटकर पांडव-शिविर को घेर चुके थे···फिर वे काले सांपों की तरह ही रेंगते-रेंगते शिविर के भीतर तक पहुंचे।

योजना के अनुसार तीनों ने पूर्व-निश्चय कर लिया था कि अश्वत्थामा और उनकी सैनिक टुकड़ी शिविर के भीतर मुख्य द्वार से न जाकर दूसरे द्वार से जाएंगे, ताकि प्रहरियों की दृष्टि से बचे रह सकें और कृतवर्मा तथा

कृपाचार्य की टुकड़ियां अपने-अपने नायकों के साथ सोई सेना पर टूट पड़ेगीं !

धृष्टद्युम्न युद्ध में बड़े वैभव से जूझने आया था। उसने अपने कक्ष में रानियों और सेवकों की भी खासी व्यवस्था कर रखी थी। कक्ष हलके अन्धेरे में डूबा हुआ था कि दबे कदमों तंगी तलवार लिए हुए क्रुद्ध अश्वत्थामा ने भीतर प्रवेश किया।

भव्य पलंग पर धृष्टद्युम्न निश्चिन्त भाव से नींद में खोया हुआ था। उससे कुछ परे अंगरक्षक सो रहे थे। नियमानुसार उन्हें जागते रहना था; किन्तु भीम सेन द्वारा दुर्योधन को मरणासन्न हालत में पहुंचा दिए जाने की सूचना के साथ मान लिया गया था कि घिनौना युद्ध समाप्त हो गया। विजयश्री के इस झोंके ने सेनिकीय लापरवाही पैदा की। परिणाम यह हुआ कि सभी जहां-तहां निष्चिन्त हो रहे।

अश्वत्थामा ने पलंग के पास पहुंचकर सोये हुए धृष्टद्युम्न के सिर में जोर से लात मारी। हड़बड़ाकर जैसे ही वह जागा कि अश्वत्थामा ने उसे उठने, सावधान हो पाने का अवसर दिए बिना एक झटके में बाल पकड़कर दूर धरती पर उछाल दिया और चिंघाड़ता हुआ उसकी छाती पर सवार होकर उसका गला और सीना घोंटने लगा ! उस क्षण धृष्टद्युम्न चीख रहा था···फिर गरदन पर बढ़ते दबाव के साथ उसकी आवाज केवल गुंगुहाट बन गई थी;··वह किसी शस्त्र से मार देने की प्रार्थना करने लगा था ताकि उसका शीघ्र प्राणांत हो सके, किन्तु प्रतिशोध की ज्वाला में झुलसता हुआ अश्वत्थामा उसे क्रूरतापूर्वक मृत्यु देने का प्रयास करता रहा ! सहसा वह जोरों से उछल-उछल कर उसके शरीर के कोमल अंगों पर प्रहार करने लगा। हर प्रहार के साथ धृष्टद्युम्न एक भयावह चीत्कार करता ! गुंग-आता और उसके मुंह से लहू के कुछ कुल्ले बाहर निकल पड़ते !

इस चीत्कार और प्रहारों के स्वरों में से अंगरक्षक जागे तथा कुछ पल स्तब्ध रहकर अपने स्वामी का वह क्रूर संहार दृश्य देखते रह गये, तभी टुकड़ी के अन्य सैनिकों ने उनकी हत्या कर डाली ! स्त्रियां अपने-अपने कक्ष से भागी हुई उस ओर चली आयी थीं और अब पागलों की तरह चीखती-चिल्लाती कक्ष से बाहर निकली जा रही थीं !

कक्ष में जागरण की लहर दौड़ने तक धृष्टद्युम्न को मारकर सन्तुष्ट भाव से अश्वत्थामा खड़ा हो गया था···टुकड़ी के अनेक सैनिक जागे हुए लोगों पर टूट पड़े थे और स्वयं अश्वत्थामा अब गर्जना करता हुआ शिखंड़ी की ओर लपक रहा था। उसने मार्ग में आए अनेक योद्धाओं, उत्तमाजा, युधामन्यु आदि का तलवार से ही संहार कर डाला और विद्युत गति से आगे बढ़कर शिखंडी के शरीर को दो भागों में काट दिया···

पांडवों के पांचों बेटे जाग चुके थे। स्थिति को समझें-न-समझें तब तक अश्वत्थामा उनके कक्ष में जा घुसा। उसके हाथ में रक्तरंजित खंग और लहू से सने उसके कपड़े देखकर वे पांचों उस पर सम्पूर्ण शक्ति से टूट पड़े! प्रतिविन्ध्य की पसलियों को उसने तलवार से फाड़ दिया और सुत-सोम की तरफ बढ़ा सुतसोम ने इस बीच पास रखा प्रास[1] उठाया और वेग से उस पर प्रहार किया। पर अश्वत्थामा युद्ध कला में अत्यन्त निपुण था। उसने सुतसोम का वह प्रहार बचाया तथा आंधी की गति से उछल-कर उसकी वह बांह काट डाली, जिसमें उसने प्रास लिया था।

सुतसोम लड़खड़ाया। उसके कंधे से रक्त का एक फव्वारा छूट पड़ा, जिससे स्वयं अश्वत्थामा का चेहरा लहू से भर गया···पर इस बीच अश्वत्थामा की तलवार सुतसोम के पेट में घुस चुकी थी! उसके फेफड़े कटकर बाहर झूल आए। 'पितृ!' उसने मरते-मरते एक पीड़ाजनक चीत्कार किया और श्वांस छोड़ दी।

इस सारे दौर में नकुल-पुत्र शतानीक सावधान होकर रथचक्र[2] अपने हाथ में संभाल चुका था। वह पिता की तरह ही नाजुक और सुन्दर देह-व्यक्तित्व वाला था। असावधानी के इस आक्रमण के कारण बौखलाए हुए उस नवयुवक को उस पल बचाव के लिए रथचक्र के अतिरिक्त कुछ नजर न आया···पर अश्वत्थामा की वायुवेग से घूमती लम्बी तलवार ने पहिया फेंका जा सके, इसके पहले ही शतानीक के धड़ से गरदन उड़ा दी! और

---

१. प्रास—एक तरह का बरछा। यह सात हाथ लम्बे बांस के मुंहाने पर लगा रहता था।

२. रथ-चक्र—संभवतः यह रथ का पहिया ही था।

श्रुतकर्मा के चेहरे पर इस जोर से लात का प्रहार किया कि वह लड़खड़ाकर एक ओर जा गिरा। भयावह प्रहार और अश्वत्थामा के कठोर जूतों की चोट से उसका चेहरा फट गया। मांस के अनेक लोथड़े गले से नीचे झूल आए ! वह आर्तनाद करता हुआ पृथ्वी पर जा गिरा !

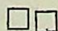
श्रुतसेन ने संयत होकर धनुष बाण सम्हाले और अश्वत्थामा पर बाण-वर्षा का उपक्रम किया। अश्वत्थामा ने पांडव-पुत्रों में से उसको भी बहुत अवसर नहीं दिया। इसके पहले कि श्रुतसेन आलस त्याग सके, अश्वत्थामा की कराल ने उसका सिर भी उड़ा दिया।

सैनिक टुकड़ियां जहां-तहां सोए, अलसाये हुए सैनिकों का संहार किए जा रही थी। अधिकतर लोगों को बचने का अवसर नहीं मिला था और जो बचे भी थे, वे घबराहट और भगदड़ में या तो कुचलकर मारे गए या फिर यहां-वहां अस्त्र-शस्त्रों की चपेट में आकर ही हत हो गए !

राजा द्रुपद के पुत्र, परिवारजनों के अतिरिक्त विराट के राजपुत्र भी इसी नर-संहार के दौरान या तो थोड़ा बहुत प्रतिरोध करते हुए मारे गए अथवा निःशस्त्र स्थिति में ही समाप्त हो गए !

इस घटना का अन्तिम दृश्य बहुत भयावह और वीभत्सता से भरा हुआ था। कृपाचार्य ने शिविर में चारों ओर से आग लगा दी थी और उसके आगे घेरा डाले हुए थे। इस आग से बचाव की चेष्टा में जो कोई चीखता-चिल्लाता हुआ बाहर आता था, उसे उनके सैनिक पल भर में काट डालते थे। जो वहां से निकल नहीं पाया वह जिन्दा ही जल गया !

घिनौने हत्याकांड के बाद विजय-भाव चेहरों पर लिए हुए अश्वत्थामा कृपाचार्य और कृतवर्मा उसी तरह रक्तरंजित तलवारें लिए हुए उस क्षेत्र की ओर चले गए थे, जिधर मरणासन्न स्थिति में दुर्योधन अन्तिम श्वांसें गिन रहे थे !



युधिष्ठिर ने टुकड़ों-टुकड़ों में इस वीभत्स कांड का समूचा ब्यौरा सुना था···उस समय अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव सभी युद्ध के विभिन्न मोर्चों पर थे। सात्यकि और कृष्ण भी अनुपस्थित थे। भागे-भागे पांडव शिविर की ओर पहुंचे तो सिहर उठे थे। शिविर का अधिकतर हिस्सा या

तो जल चुका था या जल रहा था। जिस कक्ष में पांडवों के पुत्र, और सम्बन्धी थे, वह आग से बच गया था किन्तु लाशों से पटा पड़ा था। युधिष्ठिर जैसे-तैसे लड़खड़ाते हुए उस ओर जा पहुंचे थे और फिर उन्होंने जहां-तहां बिखरी हुई लाशों में क्रमशः पांचों पुत्रों को पहचाना था, धृष्टद्युम्न की भयग्रस्त लाश देखी थी, शिखंडी का दो टुकड़ा हो चुका शरीर पा लिया था !

माथा थामकर बैठ रहे थे युधिष्ठिर ! लगता था कि बुद्धि, विवेक, धर्माधर्म के सारे तर्क पल भर में गड्ड-मड्ड हो गए हैं ! उनके साथ युधिष्ठिर की विचारशक्ति भी ! यदि कुछ शेष रहा है तो केवल वह रक्त-समुद्र शेष रहा है, जो अधिकार, अनाधिकार, धर्म या अधर्म के नाम पर उनके सामने बिखरा हुआ है···

वह रक्त-समुद्र इस पल भी शेष है !

तल में शव पड़े हैं। आदि-अन्त से हीन लगते हुए ! युधिष्ठिर शिलावत् खड़े हुए सोच रहे थे। द्रौपदी की सिसकियां इस पल भी उनके कानों में गूंज रही थीं, किन्तु वे उस अनन्त आर्तनाद से भरे हुए, जिसे इस युद्ध के दौरान ही नहीं, समूचे जीवन अनेकानेक स्तरों पर झेलते आये थे !

कहना चाहते थे—"स्वयं को संयत करो, आर्ये !" किन्तु शब्द साथ नहीं दे सके। केवल हाथ बढ़ा और हौले-हौले द्रौपदी के सिर पर घूमने लगा।

द्रौपदी ने चेहरा उठाया, पति को देखा, जोर से हिलक पड़ीं।

युधिष्ठिर जबड़े कसकर रह गए ! लगा था कि विवेक कानों में अट्टहास करने लगा है—तुम विजयी हुए पांडवराज ! तुमने उस नैतिक अधिकार का युद्ध जीत लिया, जिसके लिए तुम निरन्तर संघर्ष करते रहे थे ! अब यह सम्पूर्ण पृथ्वी तुम्हारी है ! तुम कुरुवंश की गौरवशाली राजगद्दी पर आसीन हुए !"

युधिष्ठिर के होंठों पर वही बेबस हंसी फिर से उठ आई है ! मन में इस युद्ध के हर दिन और उसके हर पल के साथ होती रही प्रतिक्रिया शब्द ग्रहण कर रही है—"नहीं ! यह जय नहीं है। यह पराजय है। ऐसी पराजय जो जय के नाम से सदा ही सत्ता और शक्ति की भूख ने पृथ्वी की ममता-

भरी छाती पर रक्त से लिखी है !"

याद आए हैं, उस दिन स्वयं के मुंह से निकले शब्द ! पुत्रों की लाशें देखकर पागलों की तरह घबड़ाने लगे थे पांडुपुत्र ! उनके साथ आ पहुंचे पांडव सैनिक और अधिकारी घबराकर उनका दह विलाप देख रहे थे । इस तरह जैसे युधिष्ठिर—सदा सर्वदा ज्ञान और तर्क की बातें करने वाले युधिष्ठिर—सहसा विवेक खो चुके हों !

वे शब्द फिर से याद हो आए हैं···जैसे-जैसे प्रतिविंध्य, सुतसोम, श्रुतसेन आदि के शव देख रहे हैं, वैसे-वैसे शोकग्रस्त होकर कहे गए उनके अपने ही शब्द उनके अपने कानों में गूंजने लगे हैं···इस पल, जब द्रौपदी को सन्तुलित रहने का उपदेश करना चाहते हैं, सदा की तरह ज्ञान-विवेक का भाषण करना चाहते हैं, तब मन में शोक-पगे वही शब्द उमड़-घुमड़ रहे हैं, जो नितांत मानवीय हैं ! उस अति साधारण मनुष्य की प्रतिक्रिया जो पिता, बन्धु या सम्बन्धी होता है ! रोग-शोक जिससे कभी परे नहीं हो पाते ! उनकी हर प्रतिक्रिया न सिर्फ वह झेलता है, अपितु सहज सम्वेदना के साथ भोगता भी है !

ऐसा क्यों हो रहा है ? युधिष्ठिर का मन हुआ कि अपने से ही प्रश्न कर ले । "यह···यह कैसे संभव है धर्मराज कि तुम जैसा विवेकशील व्यक्ति साधारण व्यक्ति की तरह सोचे, व्यवहार करे, प्रतिक्रियाओं से प्रभावित हो ? तुम तो ज्ञान, विवेक के सागर समझे जाते रहे हो ! साक्षात् धर्मावतार ! तुम भला साधारण मनुष्यों की तरह क्यों प्रभावित हुए ? क्योंकर हो जाते हो ?"

उत्तर नहीं है युधिष्ठिर के पास···दृष्ठि यांत्रिक ढंग से शवों के उस सिलसिले पर घूम रही है···

उत्तर इसी समय नहीं है या कभी भी नहीं था ? मन पुनः प्रश्न कर उठा है ।

संभवतः कभी नहीं था !

तब वह क्या था, जिसे लेकर सबकी श्रद्धा विश्वास और सहानुभूति जुटाये रहे हैं पांडवाग्रज ?

समझ नहीं आ रहा ।· किसी बार लगता है कि वह केवल उनका

विवेकशील मानस भर रहा, जो हर क्रिया और प्रतिक्रिया में निष्कर्ष खोजने की चेष्टा करता था। केवल खोजी ! इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई रूप-रंग नहीं। यदि कुछ शेष था, तो वही सहज मनुष्य जो हर स्थिति से अति-सहजता के साथ प्रभावित होता था, कष्ट जिसे दुःख देता था···घाव जिसे पीड़ित करते थे। स्नेह जिसे बांधे रह सकता था, घृणा और क्रोध भी जिसके मन-सोच को प्रभावित कर देते थे ! अत्यन्त साधारण व्यक्ति ! यही हैं युधिष्ठिर !

मानने का मन नहीं होता कि उनका सच यही है। अपने आप को ही नकार देना चाहते हैं ! कह देना चाहते हैं—"झूठ है यह ! मैंने हर स्थिति, घटना क्रिया, और प्रतिक्रिया में अप्रभावित भाव से निर्णय लिए हैं ? हर बार धर्माधर्म को लेकर सोचता रहा हूं···मुझे उस कोटि में कैसे रख सकते हो तुम ?"

एक ठहाका उठता है मन के भीतर···फिर यह ठहाका गूंजता हुआ युधिष्ठिर के मन मस्तिष्क पर बिखर जाता है— एक धुंध की तरह ! इस में न तो आगे सोचा जा सकता है, न देख पाना संभव है। ठहाके में निरन्तरता लिए एक स्वर गूंज रहा है। स्वर नहीं, संभवतः अपना ही आत्म-निर्णय—'तुम अब भी उसी दुविधा में भटक रहे हो अजातशत्रु ! तुम सदा ही दूसरों के लिए निर्णय लेते रहे, निर्णय देते रहे, किन्तु किसी भी बार तुम अपने लिए ठीक तरह कोई निर्णय नहीं ले सके ! तुम व्यक्ति नहीं, केवल दुविधा हो ! मस्तिष्क से सोचते हुए—सत्यासत्य का विवेचन करते हुए एक बुद्धिमान व्यक्ति, किन्तु जीवन के हर क्षण में मन से चलने वाले अति-साधारण मानव ! अपने भीतर देखो युधिष्ठिर ! विगत के हर पन्ने पर तुम्हारा यही चेहरा, यही व्यक्तित्व, यही भाव और यही रूप अंकित है ! देखो, गौर से देखो ! घटनाओं का एक लम्बा सिलसिला बिखरा पड़ा है तुम्हारे सामने !"

कतरा जाने को मन करता है···पर अब कतराएंगे नहीं। अपने ही हर पल का हिसाब, अपने लिए करेंगे, अपने आपको देंगे। इस हिसाब में कितना पाएंगे, कितना खो देंगे—तय नहीं है। किन्तु हिसाब अवश्य करेंगे !

सोच ही रहे थे कि द्रौपदी की ओर दृष्टि घूम गई। चौंके, देखा कि वह शोकग्रस्त होकर बेसुध-सी हुई जा रही है। घबराकर बोल पड़े—"पांचाली ? अपने को सम्हालो, देवी ! सुनो ?"

किन्तु चेष्टा करने के बावजूद द्रौपदी स्वयं को संभाल नहीं सकीं। प्रतिविंध्य की फटी छाती पर उनका चेहरा झुकने लगा। राजा युधिष्ठिर ने तुरन्त उन्हें संभाला, फिर सहारा देकर उठाया और शवों की उस भीड़ से बाहर ले जाने लगे···

द्रौपदी की अन्तर्चेतना पर पुत्रों की मृत्यु अब भी हावी थी। वह टूटे-फूटे शब्दों में बड़बड़ाए जा रही थीं—"महाराज ? मेरे पुत्र ? वे···वे ?"

"जानता हूं, देवी—जानता हूं ! किन्तु पराक्रम अमर होता है ! देह नष्ट हो जाती है पर···"

अपने ही शब्दों के खोखलेपन पर अपने आप हंस पड़ता है—"यह सब क्या कहे जा रहे हो युधिष्ठिर ? तुम्हारा मन तो कुछ और कह रहा है ?'

इस आत्मा-प्रश्न को कुचल देना चाहते हैं। कठोरता से रौंद डालना चाहते हैं, पर जान चुके हैं कि यह उनके वश में नहीं है। उनके वश में है केवल अपनी तरह जीना, सोचना, व्यवहार करना और फिर अपनी हर चेष्टा का अपने को ही उत्तर देना !

युधिष्ठिर ने द्रौपदी को दूर वृक्ष की छाया में जा लिटाया। हांफ गए। शव लाने वाले रथ इस समय भी आते जा रहे हैं···उन्हें देखते रहे। द्रौपदी कुछ सहज हुई। उनकी आंखों में अब भी आंसू तैर रहे थे, पर होंठ भिंचे हुए। युधिष्ठिर ने एक दृष्टि उन्हें देखा, फिर दूसरी ओर देखने लगे। जानते हैं कि अभी पत्नी से दृष्टि मिली तो या तो वह बिखर जाएंगी या फिर शायद युधिष्ठिर को बिखरा दें ?

सूर्य ढलने की बेला हो आई···धृतराष्ट्र, गान्धारी, संजय, विदुर आदि आने को ही होंगे। उनके साथ रोती-बिलखती पचासों स्त्रियां ! वे जिनके चेहरों पर राजगौरव की धूप खिली रहती थी, माथे सुहाग बिंदियों से दमकते रहते थे, आंखें आकाश की तरह उदार और नीली दीखती थीं···

पर अब वे आएंगी बाढ़ के बाद रीत-बीत चुके नगर-गांव जैसी। लाशों के उसी झुंड में जाकर वे अपने-अपने पतियों, पुत्रों, बन्धुओं और संबंधियों

को खोजने लगेंगी ! बदहवास रो रही होंगी, चीत्कारें कर-करके भाग्य और ईश्वर से प्रश्न कर रही होंगी ?

ये प्रश्न क्या केवल भाग्य और ईश्वर से ही होंगे ? युधिष्टिर के माथे में एक प्रश्न कौंध आया है—

संभवतः नहीं ! ये प्रश्न विजयी पांडवों से होंगे ? ये प्रश्न होंगे—युधिष्ठिर से ? युधिष्ठिर —जिन्हें धर्मराज कहा जाता है। युधिष्ठिर—जो असामान्य माने जाते हैं···

और युधिष्ठिर जान रहे हैं कि वे असामान्य नहीं हैं ! उन सभी की तरह सामान्य हैं, जो इस महासमर के इतिहास से जुड़ हैं, जिन्होंने अंश रूप में ही सही किन्तु इस घिनौने संग्राम की रचना में योगदान दिया है। जिसके जीवन का कोई भी पल इस अंशदान की कहानी और घटना से अप्रभावित नहीं है !

मस्तिष्क कहता है कि इस आरोप को अस्वीकार कर दें। कह दें—"असत्य ! सत्य केवल यह है कि युधिष्ठिर असामान्य ही हैं !केवल परिस्थितियां थीं, जिन्होंने उन्हें मोहर की तरह कुरु-पांडव कथा में नाट्याभिनय करने के लिए बाध्य किया। किसी बार अधिकार का अभिनय, किसी बार सत्य-निर्धारण का का अभिनय और किसी बार निष्कर्ष देने का अभिनय।

सब मानते हैं कि युधिष्ठिर सबके बीच रहकर भी सबसे अलग रहे हैं। पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, योगिराज कृष्ण यहां तक कि राजा धृतराष्ट्र भी ! तर्क खोजा है उन्होंने।

मन हंसता है—"हां, तुमने सही ही सोचा है धर्मराज ! तुम सबके बीच रहकर भी सबसे अलग रहे। यह दूसरी बात है कि तुम अति-सामान्य और असामान्य के बीच जिए। सत्यासत्य के निर्धारक नहीं, केवल खोजी रहे ! पर इस खोज के बीच तुम वही सब करते आए जो एक सामान्य व्यक्ति करता है। अनेक बार ! निरन्तर !

"पर ?"

सत्यासत्य, नैतिक-अनतिक और उचित-अनुचित'''खोज की एक सनातन क्रिया के पात्र हैं युधिष्ठिर! युद्धान्त के इस पल भी मन और मस्तिष्क के द्वंद्व से सत्यशोधन करते हुए!

इस सत्यशोधन में स्वयं ही हर घटना हर स्थिति और हर वातावरण के बीच साधारण व्यक्ति को तरह सुख-दुःख की घोर पीड़ा सही है उन्होंने? हर क्रिया पर प्रतिक्रिया बनकर अपने प्रति ही क्रूर हुए हैं। अपने को ही मोहरा बनाकर अपने आप पर प्रयोग करते रहे हैं!

स्वयं जलकर, जलने का कष्ट बताना और अग्नि की शक्ति खोजना कितना विचित्र लगता है? आत्मघाती कष्ट पाकर एक यथार्थ का शोध।

बस, इसी तरह आत्मघाती कष्टों को निरन्तर भोगते रहे युधिष्ठिर का यह सत्य-शोधन की उनकी अपनी कहानी है! जुआरी बनकर स्त्री को धनवत् दांव पर हार जानेवाले युधिष्ठिर ने उस दिन क्या सचमुच ही द्रौपदी को हारा था?

संभवतः नहीं! सत्य-शोधन के उस क्रूर प्रयोग में वह खोजना चाहते थे कि स्त्री क्या सच में ही धन है? पुरुष, जड़-वस्तु की भांति क्या उसे अपना खिलौना बनाए रख सकता है?

पुत्रों की मृत्यु पर शोक करते युधिष्ठिर और उस शोक से निष्कर्ष निकालने वाले युधिष्ठिर'''कभी भीष्म, कभी विदुर और कभी श्रीकृष्ण से विभिन्न परिस्थितियों में तर्कातर्क करते युधिष्ठिर'''सारे जीवन माता, पत्नी और भाइयों के अनुगत बने या बनाने वाले युधिष्ठिर जब-जब किसी परिस्थिति पर निष्कर्ष देते हैं, तब-तब केवल खोजी होते हैं। बिलकुल वही खोजी, जो स्वयं जलकर अग्नि-शक्ति की खोज करता है! मन और मस्तिष्क के बीच सदा ही जूझते, दुविधाओं में भटकते रहे युधिष्टर, व्यक्ति नहीं उस सनातन समाज-संसार की एक प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया पर निष्कर्ष भर हैं जो मन-बुद्धि के सन्तुलन से श्रेष्ठ का निर्धारण पाती है!

सोचकर सुख मिल रहा है। अपने से ही पूछते हैं—"तब, मेरे जीवन में ऐसा क्या है, जिसके लिए आत्मचिंतन, आत्म-मंथन आवश्यक हो। सीधा सपाट-सा व्यक्तित्व और जीवन रहा है मेरा'''उसमें कहीं, कुछ ऐसा नहीं जिसे लेकर निष्कर्ष लिए जाएं?" सोचा है कि इस तरह निर्णय लेकर

उस मन को थाम लेंगे जो बाध्य कर रहा है कि वह सोचें—अपना सत्य खोजें !

किन्तु मन अधिक शक्तिशाली है। तार्किक भी। कहता है—"नहीं, धर्मराज ! तुम्हें उस आत्ममंथन से गुजरना ही होगा। उस पीड़ा की कथा लिखनी होगी, जो सत्य-शोधक के नाते तुमने स्वयं ही अपने-आपको प्रयोग की वस्तु बनाकर भोगी है ! वही तुम्हारा सत्य ! मानवीय होते हुए भी घोर अमानवीय !"

उस सुबह बच्चों की तरह बिलख पड़े थे युधिष्ठिर ! अति साधारण मनुष्य की तरह चिल्लाने लगे थे—"मेरे पुत्र ! मेरे शरीरांश—वे सुकुमार राजपुत्र ?"

जहां-तहां खून से रंगे, बदरंग हो चुके सैकड़ों शवों की भीड़ में उन्होंने पांचों बेटों को खोज निकाला था···सिर घूमता हुआ, आंखें भय और पीड़ा से बिफरी हुई···"हे ईश्वर ! कैसा अनर्थ हुआ !"

कांपते लड़खड़ाते हुए युधिष्ठिर बदहवास से यहां-वहां घूम रहे थे··· बड़बड़ाते जा रहे थे—'ओह ! हम हार गए ! जय पाकर भी हम हारगए !' उन्होंने मानसिक असन्तुलन की स्थिति में मांस के लोथड़ों में बदल चुके श्रुतकर्मा के सिर को हाथ में ले लिया था और थरथराती अंगुलियों से उन लोथड़ों को यहां-वहां जोड़कर चेहरे को आकार देने का प्रयत्न करने लगे थे ···उनकी अंगुलियां लहू से सन गई थीं। होंठ थूक से सूख चुके थे···

चिन्तित, व्यग्र और घबराए हुए से पांडव पक्ष के अनेक लोग उनकी दशा देखे जा रहे थे। एक रात्रि पूर्व विजयोल्लास में मुसकरा पड़े युधिष्ठिर, भोर के साथ अपने सुख को इस तरह दुःख में बदलते पाएंगे—कौन जानता था ?

"श्रुतकर्मा की वह मोहक छवि मैं कैसे भूल सकूंगा ? किस तरह द्रौपदी को यह शोक सह पाने के लिए कह सकूंगा—नहीं जानता !" युधिष्ठिर थरथरायी आवाज में बड़बड़ा रहे थे—"यह···यह क्या हो गया ? द्रौपदी पुत्रहीन हुई ! मेरी यह जीत सहसा हार बन चुकी है ! जिस विजय की प्राप्ति करके इस तरह पछताना पड़ता हो, भला वह जय कैसे हो सकती

है ?" वे अपने से ही प्रश्न करते जा रहे थे, स्वयं ही उत्तर देते जा रहे थे—"नहीं-नहीं ? यह तो पराजय है ! ऐसी पराजय, जो जय का मुखौटा ओढ़कर आती हैं। धिक्कार है हम पांडवों पर ! धिक्कार है हमारे भाग्य और कर्म पर ! जिसके कारण हम ऐसी घृणास्पद स्थिति झेल रहे हैं !"

युधिष्ठिर और भी बड़बड़ाते, अधिक व्यग्र होते जाते, किन्तु चौंक गए थे। कन्धे पर हलका स्पर्श पाया था उन्होंने। मुड़कर देखा। नकुल आ पहुंचे थे। आंखें उनकी भी आंसुओं से भरी हुई थीं, पर अजानी शक्ति से स्वयं को सम्हाल रखा था उन्होंने। कहा था—शान्त हों, पूज्य ! शान्त हों ! यदि आप ही इस तरह धैर्य छोड़कर सामान्य मनुष्यों जैसा व्यवहार करने लगेंगे, तब पांचाली क्या करेंगी ? हम सब का क्या होगा देव ?"

किन्तु नकुल···तुम—तुम देख रहे हो ना ? छली अश्वत्थामा ने किस तरह यह संहार किया है ? कैसे इन पराक्रमी राजपुत्रों को हत किया है ? उनके सुन्दर, आकर्षक शरीर को केवल मांस के टुकड़ों में बदलकर रख दिया है ? भला कैसे हम जय का प्रकाश बनकर आए इस पराजय के अंधकार को सहें ?"

युधिष्ठिर को सहारा देकर नकुल शिविर से कुछ परे ले गए थे। पुत्रों की मृत्यु के कारण वह भी कम पीड़ित और दुःखी नहीं थे, किन्तु इस समय अपने-आपको संयत किए हुए थे···विवेकशील और धैर्यवान भाई के उस तरह टूट-बिखर जाने पर उन्हें विस्मय हो रहा था···पूछा—"आप ? आप तो भइया, सदा ही धैर्य रखते आए हैं ? आपने हम सभी को पीड़ा, उत्तेजना और दुःखों में धीरज बंधाया है, और आज इस तरह ?"

"हां, नकुल ! पर मैं स्वयं को इस पल सहेज नहीं पा रहा हूं।" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया था—"देखो तो, जिन पुत्रों के लिए हमने इस युद्ध में कौन अपना है—कौन पराया, यह अन्तर नहीं किया ? जिनके भविष्य सुख के लिए हमने स्वजन, बन्धु, बान्धव, सम्बन्धी आदि मार डाले—वही आज हमसे बिछड़ गए हैं।[1] भला सोचो तो भाई, अब यह जय किस काम

---

१. सौप्तिक पर्व : महाभारत : के १०वें अध्याय में पुत्रों की हत्या पर शोक व्यक्त करते हुए युधिष्ठिर ने स्वीकारा है कि पुत्रों के लिए ही उन्होंने यह युद्ध लड़ा श्लोक-क्रम—१० से १५ तक।

की रह गई है ? किसके लिए है ? कैसी है ?"

नकुल ने एक गहरी सांस ली। आंसू पोंछ लिए । युधिष्ठिर की पीड़ा सहज थी। लगा था कि सब सच कह रहे हैं। सच ही तो, इस महासमर में अब पांडव-बन्धुओं के पास लड़ने को मोह ही कौन-सा शेष रह गया था ? आयु का एक बड़ा हिस्सा, राज्याधिकार की वार्ता, बहस, प्राप्ति-चेष्टा, दूतों के आदान-प्रदान, सन्देशों से लेने-देने में बिता दी थी···जय का सुख यदि अनुभव हो रहा था तो केवल यह सोचकर कि सबके पुत्र है, भरत खंड का राज्याधिकार उन्हें प्राप्त होगा ! वे सुख भोगेंगे···किन्तु इस तरह विजय के मुहाने पर आकर पराजय मिलेगी—कौन जानता था ?

देर तक इसी तरह रोते-बिलखते रहे थे युधिष्ठिर···इस बीच द्रौपदी को लेने के लिए नकुल रथारूढ़ होकर राजमहल की ओर चले गए थे। जब लौटे, तब तक युधिष्ठिर ने अपने-आपको संयत कर लिया था। सदा की तरह वे शान्त चित्त बैठे परिवारजनों की प्रतीक्षा कर रहे थे···

भीम क्रुद्ध होकर अश्वत्थामा के नाश की घोषणाएं करते रहे थे, अन्य भाई पीड़ाकुल तरह-तरह से शोक कर रहे थे। पांडवों की बची-खुची सेना में इस समाचार के साथ निराशा का अंधेरा बिखर गया था···द्रौपदी माथा पीट रही थीं। और उनसे सबसे अलग एक ओर बैठे थे युधिष्ठिर ! पुत्रों की मृत्यु के दुःख को पचाने की अमानवीय चेष्टा करते हुए···मस्तिष्क को भटका रखा था उन्होंने। जब-जब ऐसी दुःखद स्थिति से सामना हुआ था तब-तब युधिष्ठिर बुद्धिलोक में निष्कर्ष खोजने लगते थे···ऐसे जैसे मरुथल में जल ढूंढ़ रहे हों ! समाधान के नाम पर कितनी-कितनी मृग-मरीचिकाएं नहीं छलती थीं उन्हें ? कितनी-कितनी बार घटना से आहत मन लिए हुए हुए युधिष्ठिर कराहते-पीड़ा सहते इसी बुद्धिलोक में नहीं जा पहुंचते थे ?

हर बार ! हर बार यही कुछ करते रहे थे युधिष्ठर ! हर घटना पर बुद्धि से तर्कातर्क करते हुए उसके कारण को खोजने में उन्होंने गत-आगत की सैकड़ों परतें उधेड़ी थीं···तब तक उधेड़ते रहे थे, जब तक कि निष्कर्ष न पा ले ! अपने ही मन-शरीर पर लगे हर घाव पर निष्कर्ष का मरहम लगाकर अजब-सी शान्ति मिलती थी उनके खोजी मन को !

उस बार भी उन्होंने तर्क खोज निकाला था। एक नया सिद्धान्त दे

दिया था संसार के नाम—"यह सब प्रतापी धृष्टद्युम्न, शिखंडी और हमारे अपने पुत्रों की अज्ञानता के कारण ही हुआ है। उन्हीं की भूल है, जो उनके अपने नाश का कारण भी बनी है और हम सबकी पीड़ा का कारण भी हुई है !"

चिढ़े हुए भीमसेन ने उद्दंडतापूर्वक प्रश्न किया था—"क्या भूल थी उन निरपराधों की, किस अज्ञानता की चर्चा कर रहे हैं आप ?"

युधिष्ठिर भाइयों के स्वभाव से परिचित थे। सदा की तरह शांत स्वर में कहा था उन्होंने—"तुम्हारी वेदना जानता हूं महावीर ! पर मैं जिस कारण की ओर संकेत कर रहा हूं, उसे विचारकर तुम्हें भी यह स्वीकारना होगा कि पांचालाराज जैसे समझदार आदमी से भी भूल हुई, तनिक विचार करो, बन्धु ! जिन वीरों को कर्ण, भीष्म और आचार्य द्रोण जैसे योद्धा हत नहीं कर सके, वे सब भला इस तरह असहाय स्थिति में क्योंकर मरे ? मुझे लगता है कि मनुष्य का बहुत बड़ा दोष है, तनिक-सा सुख पाकर असावधान हो जाना ![1] दुर्योधन की मृत्युवत् स्थिति का समाचार जानकर ही ये सब लोग विजयोल्लास में इतने असावधान रहे कि अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा जैसे शत्रुओं को विस्मृत कर बैठे।"

भीम बड़े भाई की बात सुनकर थमे, चुप हो रहे।

युधिष्ठिर स्वभावतः अपने ही घाव को निर्ममता के साथ कुरेदते हुए कहे गए थे—"हमारे प्रिय पुत्रों की यह अकाल मृत्यु हमारी जय को तो पराजय में बदल ही चुकी है, साथ ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी कर गई है कि जो लोग असावधानी के दोष से ग्रस्त होते हैं, वे सब कुछ पाकर सब कुछ खो सकते हैं।"

भीम, नकुल, सहदेव सभी उनकी ओर इस तरह देखने लगे थे जैसे उन्होंने किसी किरण से साक्षात्कार किया हो !

युधिष्ठिर चुप हो गए। द्रौपदी का क्रंदन उस समय भी कानों में था,

---

१. सौप्तिक पर्व : महाभारत : के १०वें अध्याय में युधिष्ठिर ने पुत्रों के अश्वत्थामा द्वारा हत होने पर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'असावधानी से मनुष्य के सब काम बिगड़ जाते हैं !' श्लोक-क्रम—२१ से २३ तक।

उनके उत्तेजक संवाद रह-रहकर उभर-डूब रहे थे···युधिष्ठिर चुप के बावजूद गहरी पीड़ा से भरे हुए थे। वे न रो पा रहे थे, न ही अब शोकाकुल होकर तरह-तरह की बातें कर पा रहे थे !

□□

उत्तेजना, क्रोध और आवेश के वश में आकर शेष चारों भाई और द्रौपदी न जाने क्या-कुछ कह जाते थे···कितनी ही बार उन्होंने ईश्वर, भाग्य और संसार को दोषी बनाया था। तरह-तरह की बातें की थीं, तरह-तरह से दुःख या सुख की अभिव्यक्ति कर डाली थी।

युधिष्ठिर भी उन्हीं की तरह, उनकी स्थिति, उनके कष्टों, उनके आनन्दों से जुड़े रहे हैं, किन्तु किसी बार उस तरह सम्पूर्णता में चमक-चहककर अपने-आपको खाली नहीं कर सके ! लगता है कि इस पल भी वह हर घाव उनके मन-मस्तिष्क पर उसी तरह बना हुआ हैं, रिस रहा है, जिस तरह किसी घटना के समय बना था। अपने-आपको ज्ञान के प्रयोगार्थ कष्ट देने की यह क्रिया कितनी क्रूर रही है—कौन जानेगा ?

संभवत: कोई नहीं जान सकेगा !

कोई जाना भी नहीं है। जानते हैं सिर्फ युधिष्ठिर ! एक-एक करके अनेक घटनाएं हैं, अनेक कहानियां, अनेक दुःख-सुख के क्षण ! वे सब युधिष्ठिर के मन पर उसी तरह ताजे हैं, जिस तरह अपने विगत में लगे थे !

युधिष्ठिर ने एक गहरा श्वांस लिया। आगे सोचें, इसके पूर्व ही हर विचार को किनारे करके उठ पड़े···

रथों का एक सिलसिला सामने से आता दीख रहा था···

संभवत: गान्धारी, धृतराष्ट्र, विदुर आदि आ पहुंचे है···संयत होकर धर्मराज ने दुःख से बेसुध-सी पड़ीं पांचाली को जगाया—"देवी ?"

पांचाली ने उनकी ओर देखा। युधिष्ठिर शान्त स्वर में बोले—"उठो, देवी ! महाराज धृतराष्ट्र कुलजनों के साथ आ रहे हैं !"

□□

वे रथों से उतरे···

युधिष्ठिर और सिर झुकाए द्रौपदी उनके सामने जा खड़े हुए। मन

अपराध-बोध के समुद्र में डूबा हुआ। बहुत चाहा था दोनों ने कि यह बोध न हो, किन्तु श्वेत धवल दाढ़ी वाले, वृद्ध कुलपुरुष को देखते ही लगा जैसे तर्कहीन हो गए हैं। शब्द होते हुए भी उच्चारण कर पाने में असमर्थ।

कौरवराज धृतराष्ट्र संजय के सहारे रथ से उतरे। उनके बाद गान्धारी। युधिष्ठिर ने देखा—पितृबन्धु के जबड़ों पर अजब-सा तनाव था। झुर्रियों भरे किन्तु कठोर चेहरे पर दृष्टिहीन पुतलियां थिरकती हुईं। वज्रवत् शरीर रह-रहकर कम्पन करता हुआ···

द्रौपदी—कुरुजननी का चेहरा देख रही थीं। लग रहा था कि वह सब कुछ देख पा रही हैं। क्या दुःख या सुख दृष्टि से ही देखे जाते हैं? लगा था कि नहीं। उनका दर्शन मानस करता है। स्वयंमेव करने लगता है!

और कुरुजननी, प्रतापी दुर्योधन की माता पीड़ा का वही मानस-दर्शन करती हुईं। उनके पतले कोमल होठों पर थरथराहट हो रही थी। पट्टियों पर ऊपर तक गीलापन। संभवतः वे इस भयावह दृश्य को भली तरह देख पा रहीं होंगी? द्रौपदी सोच रही थीं···

सिलसिले में पड़े हुए पुत्रों, प्रपुत्रों के शव···भाइयों, सम्बन्धियों के क्षत-विक्षत शरीर, दुर्गंध से भरे सड़ते हुए, महारथियों, रथियों और अति-रथियों के कटे-फटे अंग-प्रत्यंग!

युधिष्ठिर ने स्वयं को संभाला, कहा, "प्रणाम पूज्य! इस भयावह संग्राम में हत हुए वीरों के शव हमने खोज निकाले हैं!"

उत्तर नहीं दिया था राजा धृतराष्ट्र ने। नाक पर बल पड़े। संभवतः सड़ांध के कारण वह बेचैन होने लगे थे।

संजय ने उन्हें बतलाया—"राजन्! आपके पुत्रों, प्रतुत्रों, परिवारजनों के शव एकत्र हो चुके हैं···जो थोड़े बहुत शेष हैं, उनके अन्त्य संस्कार की व्यवस्था उन्हीं स्थानों पर की गई है, जहां कि वे योद्धा लड़ रहे थे!"

गान्धारी सहसा ही सिसक पड़ीं। बड़बड़ाईं—"कृष्ण! कहां हैं कृष्ण?" उनके स्वर की तेजी और गालों पर थिरकते मांस ने पल भर में युधिष्ठिर को सतर्क कर दिया था—"दुःख से भरी हुई कौरवजननी इस पल कृष्ण को क्यों खोज-पूछ रही हैं? निस्सन्देह ही वे क्रोध में कृष्ण को धिक्कार सकती हैं! हो सकता है कि शाप दें!" शान्त, मीठे स्वर में उन्हें

धैर्य बंधाने के लिए कुछ कह देना चाहा था, पर थक गए । दुःखी मां से वह सब कहना उसे ज्यादा दुःख पहुंचाना होगा ! प्रतिक्रिया में गान्धारी क्या कह बैठें—तय नहीं । चुप रहना ही श्रेयस्कर !

संजय आगे हो लिए । धृतराष्ट्र उनके कन्धे पर हाथ रखे हुए पीछे-पीछे । उनके पीछे गान्धारी···

वे शवों की ओर बढ़ चले···

एक निश्चित दूरी बनाए रखकर युधिष्ठिर, विदुर और द्रौपदी चले । शवों के क्रम में चलते-चलते संजय हर युद्ध-हत योद्धा का परिचय दिए जा रहे थे···गान्धारी और धृतराष्ट्र थमते, सुनते और थूक के घूंट निगलते हुए आगे बढ़ जाते···फिर अगला परिचय···

दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, द्रोणाचार्य, अभिमन्यु···शव और शवों का एक लम्बा सिलसिला···

यहां-वहां कौरव-पांडव विधवाएं बिखरी हुई थीं···उन्होंने अपने-अपने रथों से उतरते ही बदहवासी में अपने-अपने पतियों, पुत्रों, परिचितों, भाइयों की लाशें खोज ली थीं···वे तरह-तरह से रो रही थीं, विलाप करती हुई कभी युद्ध की क्रूरता, छलनीति, भाग्य और अपने मृतक के पराक्रम का वर्णन कर रही थीं···अनेक चेतना खो बैठी थीं और अनेक अब भी शवों के उस समुद्र में अपना वांछित खोजती चीखती घूम रही थीं !

सहमे हुए युधिष्ठिर सोच रहे थे—कौन दोषी है इस सबका ? कौरव या पांडव ? व्यक्ति या समूह ? राज्य या व्यवस्था ? न्याय या अन्याय ?

□□

देर तक वह रुदन, क्रंदन, और शोक का पीड़ाजनक वातावरण बना रहाथा, फिर वे सब अन्त्य संस्कार की तैयारी में जुट गए थे । भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, कुन्ती, कृष्ण आदि भी इस बीच आ चुके थे । उन सबमें एक-दूसरे से कहा-सुनी भी हुई थी, दुःख और आवेश में गान्धारी और अनेक कौरव विधवाओं ने युधिष्ठिर, कृष्ण और अन्य पांडवों पर तरह-तरह के आरोप भी लगाए थे···विदुर ने उन सबको शान्त किया था । बोले थे—"जो घट चुका है, उस सब पर शोक करना अब व्यर्थ है ! श्रेयस्कर और उचित यही है कि इन वीर योद्धाओं के शवों को हम लोग इस तरह न डाले

रहें। उनके प्रति यह हमारा अन्याय होगा ?"

शोकवश श्रीकृष्ण को शाप दे चुकीं नान्धारी को भी विदुर ने ही शान्त किया था। कहा—"भाभी ! युद्ध के इस घोर अनर्थ का दोषी कौन था या कौन नहीं, यह सब निश्चित करने का अवसर यह नहीं है उचित यही है कि इस समय आप धैर्य रखें और अपने वीर पुत्रों के अन्तिम संस्कार के लिए तत्पर हों ?"

बहुत मन हो रहा था युधिष्ठिर का, कुछ कहें, बोलें, शान्त-सहज वाणी में गान्धारी के घावों पर मरहम रखें, पर लगा था कि भयग्रस्त हो उठे हैं। क्रोधावेश से भरी हुई कौरवजननी ने जिस तरह श्रीकृष्ण को शाप दे डाला था, उसके कारण युधिष्ठिर सहमकर रह गये।

लगता था कि युद्धांत की पीड़ा और दुःख ने उनसे धैर्य, शान्ति और विवेक सब कुछ छीन लिया है। उत्तेजित होकर बोली थीं—"तुम तो समर्थ थे श्रीकृष्ण ? तुम चाहते तो यह क्रूर नरसंहार रुक सकता था ! तुमने यदि तनिक भी प्रयत्न किया होता तो शायद इस तरह पराक्रमी दुर्योधन और उसके अन्य भाई मुझे पुत्रशोक से ग्रस्त करके जीवनहीन न हो जाते ! पर तुमने कछ भी नहीं किया ! यहां तक कि तुमने घृणा से भरे कौरव-पांडवों को एक-दूसरे का संहार करते हुए नहीं रोका !

भयातुर युधिष्ठिर, विदुर, भीम आदि सब कृष्ण को देखने लगे थे। गान्धारी क्या कुछ कहने जा रही हैं, यह उनके स्वर का तीखापन और कटुता व्यक्त कर रही थी···

पर कृष्ण मुसकरा रहे थे···ऐसे, जैसे गान्धारी के शाप को आमंत्रित कर रहे हों ! युधिष्ठिर ने उस पल चकित होकर सोचा था—"विचित्र है यह युवा यादव! हर स्थिति, हर घटना, हर दुःख-सुख में सहज और शांत ! क्या यह मनुष्य के लिए सभव है ?"

लगता था कि असंभव है। इसीलिए कृष्ण जब जो कुछ बोलते, युधिष्ठिर आयु में बहुत बड़े होते हुए भी बहुत धैर्य से सबकुछ सुना करते। मन की अनंत गहराइयों तक उसे उतार लेते। मस्तिष्क से परखने का प्रयत्न करते हुए भी ठीक तरह परख न पाते। निस्सन्देह कृष्ण की असामान्यता ही उनके मन की इस धारणा को पुष्ट करती जा रही थी कि वह ईश्वरांश

हैं ! अवतार !

गान्धारी ने टूटे शब्द पुनः जोड़े—"कृष्ण !" इस तरह बोली थीं वह, जैसे चीखी हों—"इस दुर्दांत नाशलीला के कारण तुम हो ! तुम ही हो, जिसने परोक्ष-अपरोक्ष रूप से इसकी रचना की है, अतः मैं···मैं अपनी पतिनिष्ठा, सेवा और सम्पूर्ण एकाग्रता से प्राप्त मन-शक्ति से तुम्हें शाप देती हूं कि तुम्हारे यदु-वंश का भी इसी तरह नाश हो, जिस तरह कौरवों का हुआ है ! कृष्ण ! तुम स्वयं ही उस नाश के कारण बनोगे ! तुम्हारे सजातीय, परिवारजन, बन्धु, बान्धव, पुत्र, प्रपौत्र यहां तक कि तुम्हारे शुभचिन्तक भी इसी तरह मारे जायेंगे ! तुम्हारे जाति-परिवार की स्त्रियां, ठीक उस तरह, जिस तरह आज कौरवों की विधवाएं, पुत्रवधुएं अपने पति-पुत्रों के शवों पर सिर पीट-पीटकर रो रही हैं—रोयेंगी !

"भाभी ! शान्त हो, भाभी !" विदुर की आवाज कंपकंपा रही थी। गान्धारी की तीखी, बिजली की तरह कड़कती आवाज के कारण वे सब निःशब्द होकर रह गये थे। लगता था कि उनके सुनने-समझने की शक्तियां जाती रही हैं···भयग्रस्त होकर वे कांप रहे थे। अन्धे राजा धृतराष्ट्र के जबड़ों पर मांस रह-रह कर थरथरा रहा था···

पर गान्धारी ने जैसे कुछ नहीं सुना था, वे बोले गयीं। इस तरह जैसे समुद्र की शान्त सतह को सहसा उठे ज्वार ने हचमचाकर रख दिया हो—"स्मरण रहे शंख, चक्र और गदाधारी ! तुम स्वयं भी अनाथ की तरह किसी निर्जन वन में मरोगे ! तुम्हारे शव का भी किसी को पता नहीं लगेगा ! आज से ठीक छत्तीसवें वर्ष तुम इस देहावसान को प्राप्त करोगे।" बोलते-बोलते हांफ गई थीं गान्धारी ! उनके माथे पर पसीना छलछला आया था···

धृतराष्ट्र कराहते हुए से बोले थे—"सुबलपुत्री ! यह तुमने क्या कर डाला ?"

विदुर बोलना चाहते थे; किन्तु आवाज नहीं निकल सकी थी···

और युधिष्ठिर ! एकदम जड़ ! इस तरह जैसे बुद्धि, ज्ञान, विवेक सब कुंठित होकर रह गये हों ! □□

बहुत कुछ घटता जा रहा था···ऐसा, जिसकी कल्पना भी नहीं की थी पांडवपुत्र युधिष्ठिर ने ! गान्धारी का वह कठोर श्राप ! फिर फूट-फूटकर रो पड़ना, अन्त में उन सबका मिलकर परिवारजनों के अन्त्य कर्म करना।

गंगा किनारे शवों को कई ढेरों में एकत्र करके दाहकर्म हुआ। अनगिनत शव अग्नि की ज्वालाओं में समर्पित हो गए···अनगिनत होते हुए !

छोटी-छोटी टोलियों की शक्ल में वे सब इधर-उधर बैठे हुए अपने ही रक्त और रक्त सम्बन्धियों की चटकती हड्डियों और लहू के छनकने की ध्वनियां सुनते रहे थे। एक ढेर की ज्वालाएं शान्त होतीं, उस बीच दूसरे ढेर की ज्वालाएं लपलपाती हुई आकाश की ओर उठने लगतीं···यश, कीर्ति, वीरता पराक्रम, पृथ्वी का वैभव, राज्य, कुल मर्यादा, सभी कुछ यहीं छोड़कर धुंएं में बदलते शरीर ! युधिष्ठिर ठहरी दृष्टि से देखते रहते···

और एक युधिष्ठिर ही क्यों, वे सब ! अर्जुन, नकुल, सहदेव, भीम, विदुर, संजय अनेक···!

राजा धृतराष्ट्र चिताओं से उठती लपटों की गरमी महसूस करते और अनुमान लगा लेते कि उनके अनेक पुत्र, पौत्र, परिवारजन निःशेष हुए !

अभी यही सब चल रहा था कि सहमी, थकी-सी चाल में कुन्ती उनके पास आ बैठी थीं। कहा था—"युधिष्ठिर ! अनेक सगे-संबंधियों का अन्त्य संस्कार तुम कर रहे हो, उचित होता यदि कर्ण का अन्तिम संस्कार भी···"

युधिष्ठिर चकित हुए। पास बैठे भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने इस तरह चौंककर देखा जैसे चिता से उठती कोई लपट तलवार की तरह उनके अपने शरीरों को काट गई हो !

"माता, यह आप···क्या कह रही हैं ?" युधिष्ठिर की आवाज लड़खड़ा गई।

कुन्ती ने क्रमशः सभी बेटों के चेहरे देखे, होठों पर जीभ फिराई, फिर धीमी आवाज में कहा—"मुझे यही उचित लगा पुत्र, इस कारण···"

"आश्चर्य !" भीम बड़बड़ाये—"संभवतः दुःख और पीड़ा के कारण हमारी माता कुछ असहज हो गई हैं, इसी कारण वह उच्च, कुलिन क्षत्रियों के साथ एक सूतपुत्र का संस्कार करवाना चाहती हैं।"

अर्जुन जैसे अब भी समझने की चेष्टा कर रहे थे। द्रौपदी सहमकर

देखने लगी थीं सास की ओर।

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है, भीमसेन !" कुन्ती का स्वर सहसा ही केवल कठोर नहीं हुआ था अपितु तीखा भी हो गया था—"जिसे तुम सारे जीवन सूतपुत्र कहकर धिक्कारते रहे, जिसका गुणांकन उसके जीवित रहते कभी नहीं हो पाया, जिसके पराक्रम और वीरता को सदा ही समाज-परिस्थितियों ने अन्धकार से ग्रसे रखा—वह यशस्वी कर्ण तुम्हारा बड़ा भाई था !"

युधिष्ठिर शांत दृष्टि से निरंतर मां की आंखों में देख रहे थे। आंखें, जिनका हर छोर कष्ट, पीड़ा और वेदना से भरा हुआ था। लगता था कि वह कर्ण को लेकर जो कुछ कह रही हैं, केवल प्रलाप नहीं है, न ही उनके मानसिक संतुलन का बिखराव है, अपितु कोई ऐसा सत्य है जो समय-काल के एक बड़े हिस्से में किसी कारण रहस्य बना रहा या बनाये रखा गया !

अर्जुन और द्रौपदी एक-दूसरे को देखने लगे थे···ऐसे जैसे एक-दूसरे को विश्वास दिलाने का प्रयत्न कर रहे हों कि जो कुछ उन्होंने सुना है—वह असत्य है ! भला कर्ण जैसा व्यक्ति उनका भाई कैसे हो सकता है ? वह जो सदा ही उनके विरुद्ध षड्यंत्रों की रचना करता आया था, वह जो समूचे पांडव पक्ष के लिए मृत्यु से कहीं भयानक चुनौती बना हुआ था, वह जिसे याद कर-करके कितनी ही बार युधिष्ठिर रातों को सोते में जाग जाया करते थे···चौंकते फिर डरे हुए से यहां-वहां देखने लगते !

नकुल-सहदेव इस तरह विस्मित, जैसे वह सहज लोक में ही न हों। भीम भौंचक्के हुए-से।

कुन्ती इस बीच जैसे साहस बटोरती रही थीं। उन्होंने जब एक बार बेटों की ओर देखा तब युधिष्ठिर को लगा था कि एक अपराध-बोध उनकी आंखों में हैं। उससे कहीं अधिक है पछतावा ! सिर झुकाकर पुनः कहने लगी थीं—"धर्मराज ! तुम विद्वान और ज्ञानी हो। मुझे विश्वास है कि शांति-पूर्वक इस सत्य को सुनोगे जो आज मैं सुनाने जा रही हूं···तुम जिसे राधा पुत्र कहकर सारे जीवन पुकारते रहे, वह अद्वितीय योद्धा और सरल दानी मृत्युंजय तुम्हारा सगा बड़ा भाई था, जिसे मैंने कौमार्यवस्था में जन्म दिया था।·· वह मेरी और सूर्य की सन्तान था !" बात समाप्त करते-करते कुन्ती

की आवज भर आयी। उससे भी कहीं अधिक गला रुंधने-सा लगा···

युधिष्ठिर को लगा था कि अपने-आपको चुप रख पाने के लिए उन्हें अपने से ही कठोर संघर्ष करना पड़ रहा है। जबड़े भिचकर रह गये थे, गला सूखता हुआ। इच्छा हो रही थी कि इसी क्षण उठें और अपनी तपस्विनी कही जाने वाली माता पर मुष्टि प्रहार कर दें!

किन्तु नहीं! यह सब नहीं कर सकेंगे युधिष्ठिर! एक दोष से दूसरे दोष का प्रायश्चित नहीं हुआ करता। इसके विपरीत अक्सर पापों में बढ़ोत्तरी हो जाती है! कहा था—"माता! उचित होगा यदि सब कुछ तुम कह सुनाओ! यह सच है कि हम सब भाइयों को अबतक असत्य के अन्धकार में रखकर तुमने हमसे घोर पाप करवा दिया है, फिर भी इस क्षण हम यह जानने को उत्सुक हैं कि कर्ण किस तरह हमारा भाई था?"

□□

सब सुना। उस सारे समय अद्‌भुत धैर्य-शक्ति से अपने को सम्हाले रखा। अनेक बार मन के न जाने किस-किस गहरे कोने से बाढ़ की तरह उफान लेकर कुछ अश्रु आंखों तक उबल आये, अनेक बार धिक्कार कहते-कहते होंठ माता के प्रति शिष्टाचार के कारण थमे रह गये!

पर शेष भाई? युधिष्ठिर तुरन्त वर्तमान की स्थिति के लिए चिन्तित हो रहे थे···डरकर शेष भाइयों की ओर देखा था।

अर्जुन की आंखें छलछलाई हुई थीं। द्रौपदी लज्जित होकर सिर झुकाये बैठी रह गई थीं—इस तरह जैसे जड़ हो गई हों! भीम का चेहरा रक्त से उबलता हुआ-सा। जबड़े जकड़े हुए। उनकी सांस जोर-जोर से चल रही थी। शरीर क्रोध सहने के प्रयत्न में फूलकर दोहरा हुआ जा रहा था!

युधिष्ठिर शांत हो उठे थे···क्या अर्जुन, भीम और नकुल-सहदेव इसी तरह सहकर थमे रह सकेंगे? लग रहा था कि असंभव है! उन्होंने कुछ चिढ़ और क्रोध से भरकर माता की ओर देखा था, जैसे कहा हो··· "धिक्कार है तुमपर! तुमने महावीर वृष को जन्म देकर जितना बड़ा पुण्य किया था, उतना ही बड़ा पाप सूर्य-सत्य को छिपाकर कर डाला? इच्छा होती है कि तुम्हें दंडित किया जाये! पर कैसे बेबस हैं हम लोग···वह भी हमारे वश में नहीं?"

यही कुछ सोच रहे थे कि भीम असह्य भाव से सहसा उबल पड़े। ऐसे जैसे धरती सहसा लावा उगलने लगी हो। घृणा, क्रोध और नाश-शक्ति से भरा हुआ लावा! "तुम्हें माता कहते हुए लज्जा आती है कुन्ती देवी! तुमने अपने बड़े बेटे से छल तो किया ही, साथ ही हम सभी को धोखा दिया! हमारे हाथों एक घिनौना पाप करवाया! हमें हमारे ही भाई का हत्यारा बना डाला! धिक्कार है तुम पर! मुझे तो लगता है कि तुम नारी ही नहीं हो! भला वह स्त्री, स्त्री कैसे कहला सकती है जिसमें मातृत्व के नाम पर केवल क्रूरतापूर्ण चेष्टा हो!" भीम आगे भी बहुत कुछ कहते जाना जाहते थे पर युधिष्ठिर ने उन्हें रोक लिया था—"भाई! संयत रहो! जो हो चुका है, वह अब सुधारा नहीं जा सकता! हमारे सामने अब शोक व्यक्त करने के अतिरिक्त कुछ नहीं रहा! अपने दानवीर भाई की हत्या का पातक लेकर हम सारे जीवन पश्चाताप की अग्नि में जलते रहेंगे! इसके अतिरिक्त हम कुछ नहीं कर सकते!"

अर्जुन कुछ बोले नहीं थे। जो बोलना चाहते थे, वही कुछ पिघलकर जैसे शब्दों के बजाए केवल अवश छटपटाहट बनकर रह गया था···अर्थहीन होते हुए भी अर्थयुक्त! वह रो पड़े थे बच्चों की तरह···अस्पष्ट शब्द उच्चारते हुए—"यह···यह सब क्या कर डाला माता! मेरे अपने ही हाथों, मेरा अपना अग्रज मारा गया! मैंने स्वयं ही अपने हाथों अपना ही गला घोंट लिया? इस निर्लज्जतापूर्ण सत्य को जानने के बाद मुझे अपना जीवन ही अर्थहीन लगने लगा है!"

एकदम चौंककर टोक दिया युधिष्ठिर ने—"संयत रहो, धनंजय! यदि कर्ण की तुम्हारे हाथ से मृत्यु तुम्हारा पाप है, तब उसके पाप निश्चित होने के पूर्व प्रलाप करने से कोई लाभ नहीं! शान्त हो।"

वे चुप हो रहे थे पर लावे से जले-झुलसे हुए! लग रहा था कि पराजय उनके सारे बदन में गलीज केंचुओं की तरह रेंगने लगी है···वे अपने ही प्रति दोष और घृणा से भरे हुए तरह-तरह से अपने को धिक्कारते रहे थे··· गहरे-गहरे निःश्वास भरते हुए कुन्ती को क्रोधित दृष्टि से देखते रहे थे।

युधिष्ठिर भी कहां उनसे अलग हो पा रहे थे? सबसे कुछ ज्यादा ही घट रहा था उनके भीतर। सबकी तुलना में सबसे अधिक पीड़ा देता हुआ

···किन्तु इस पीड़ा को उथले ढंग से व्यक्त नहीं करेंगे ! सम्पूर्ण साहस संजोये हुए अपने को सम्हाले रहे।

कुछ पल के लिए वे सभी स्तब्ध से बैठे रहे थे। चुप, किन्तु चीत्कारों से भरे हुए। लाशों के उस वातावरण में सहसा अधिक वीभत्सता और घिनौनापन बढ़ गया था। उन सभी को लग रहा था कि अपनी-अपनी तरह वे सब दोषी हो गए हैं ! जिस प्रतापी कर्ण को लेकर स्मरण के साथ ही घृणा और उपेक्षा का भाव जन्मता था, उसी का स्मरण अचानक उन्हें आत्मग्लानि के लावे में झुलसाने लगा है···नहीं जानते कि कैसे, किस तरह थामा था स्वयं को—पर उस समय थाम लिया था !

प्रतिक्रिया के नाम पर इतना भार हुआ था कि कर्ण को लेकर वे सब अलग-अलग हो गए थे। एक स्थान पर बैठै हुए, किन्तु अलग-अलग जीते हुए ! अलग-अलग सोचों से भरे-घिरे।

कुन्ती के इस आत्म-स्वीकार ने केवल पांडवों को ही हचमचा डाला हो···ऐसा तो नहीं था ? युधिष्ठिर की घूमती दृष्टियों ने आस-पास बैठे परिवारजनों के चेहरों को भी देखा था···गान्धारी, धृतराष्ट्र, विदुर, विदुरपुत्र···और कौरव-पांडव विधवाओं का विशाल झुंड ?

वे सभी फुसफुसाहटी से भर उठे थे···कुछ तरह-तरह से कुन्ती को धिक्कार रहे थे। कुछेक भाग्य और विधाता को कोस रहे थे···

चिताएं जल रही थीं···उनके साथ-साथ लाशों के विशाल ढेर धुआं बनकर गायब होते जा रहे थे···

□□

शाम होते-होते एक बार पुनः सभी ने अनेक सम्बन्धियों के शव खोज निकाले। कुन्ती स्वयं ही युधिष्ठिर और शेष चारों बेटों को लेकर कर्ण का क्षत-विक्षत शव उठवा लाई थीं !

युधिष्ठिर ने जब कर्ण को पैरों की ओर से उठाकर रथ तक पहुंचाने के लिए सहारा दिया तो मन जोर-जोर से हिचकियां भर-भर कर रोने को हो आया था। बहुत कठिनाई हुई थी स्वयं को थामे रहने में ! याद हो आया था विगत-क्षण ! वह कर्ण, जब पहली-पहली बार कर्ण के पैरों को देखकर उन्हें माता याद हो आई थीं !

वह दिन, जब कर्ण के पैरों को उस तरह पहली बार देखा था युधिष्ठिर ने ! देखने का कारण कुछ और था, किन्तु दृष्टि कर्ण को सिर से पैर तक घूरते-घूरते कदमों में अटकी रह गई थी ! अविश्वास, आश्चर्य और कौतूहल से भर उठे थे युधिष्ठिर ! अनायास ही होठों से शब्द निकल गये थे··· अद्‌भुत सामंजस्य है माता कुन्ती और सूत-पुत्र के पैरों में ?"[1]

वह पल ?

लगता है कि वही पल अब आंसुओं का एक तालाब बनकर युधिष्ठिर के भीतर उबर आया है। इस तालाब में उस दृश्य को इस तरह देख रहे हैं जैसे सदा-सदा के लिए चित्रवत् अंकित होकर रह गया हो !

उस दिन अनायास ही उनके मन में एक विचार आ गया था, "ऐसा क्यों है ? यह सहज नहीं···अपने-आप में कुछ असहज-सा ही है !"

मन ने कहा था—"युधिष्ठिर ! कर्ण सूत-पुत्र कहलाता भले ही हो, भले ही राधेय कहे जाने पर उसकी आंखों में सुख-शान्ति की चमक बिखर जाती हो, किन्तु तुम्हारी माता से उसके पैरों का मिलना अकारण नहीं हो सकता ?"

"तब क्या कारण हो सकता है ?" भरी सभा में बड़बड़ाकर बोल गए थे। जोर से बोल गए हैं, यह उस समय पता चला था जब पास बैठे भीम ने प्रश्न किया—"क्या हुआ अग्रज ?"

□□

"हूं ?" युधिष्ठिर सहज हुए—फिर संभलकर बोले—"ऐसे ही···कुछ विचार करने लगा था।"

भीम सन्तुष्ट हो गए। मुसकराए। सोचा—भाई का यह स्वभाव सहज ही है। किसी भी पल अपने साथ रहकर, भीतर नहीं रह पाए हैं। न जाने

---

1. महाभारत : शान्तिपर्व : के प्रथम अध्याय में श्लोक-क्रम ४० से ४२ के बीच युधिष्ठिर नारदजी से कहते हैं—"···कुन्ती के पैरों के समान ही कर्ण के पैर थे। इस समानता का कारण जानने की इच्छा रखता हुआ भी मैं किसी तरह पता नहीं लगा सका।"

कहां-कहां तक भटकता रहता है उनका मन। दृष्टि द्रुपद कुमारी की ओर लगा दी। लगा था कि मन के भीतर बिजलियां कौंध रही हैं। खून उबलता हुआ-सा ! अद्‌भुत सौन्दर्य था द्रुपद कन्या का ! स्वयंवर के लिए आयोजित सभा में बहुत देर से आ चुकी थीं द्रौपदी—तब से सभी का ध्यान अपनी ओर खींचे हुए थीं ! इस ध्यान में अपने अद्‌भुत शरीर-सौन्दर्य और गठन के अतिरिक्त कृष्णा की मोहक मुसकान थी जो सहसा ही किसी की दृष्टि में कामभाव को जागृत कर देती !

युधिष्ठिर ने कितनी ही बार सोचा था—कर्ण के पैरों की ओर से दृष्टि हटाएं, और सौन्दर्यमयी द्रौपदी पर पुतलियां ठहरा दें ! उस द्रौपदी पर, जिन्होंने युधिष्ठिर के संयत-संयमित रहने वाले मन को अनायास ही बांध लिया था ! लगभग एक घंटे पहले जब द्रुपदकन्या ने स्वयंवर में प्रवेश किया था, तब सभा में सहसा सन्नाटा बिखर गया था ! सभी इस सन्नाटे के पात्र ! सभी सन्नाटे में व्याप्त उस व्यग्रता से भरे हुए जो द्रौपदी की पहली नजर देखते ही सभी के मन में आ गई थी !

युधिष्ठिर भी कहां अलग रह पाए थे—उस मन:स्थिति से ?

मन:स्थिति या मोहस्थिति ?

इस पल सोचा पाना कठिन···इस पल तो केवल कर्ण के पैरों को लेकर उठे सन्देह क्षण से जुड़ने के लिए बाध्य हुए हैं युधिष्ठिर !

कितना अच्छा होता कि वह अत्यन्त अधूरा न छोड़ा होता जो उस दिन कर्ण को लेकर मन में उठी आशंका के कारण प्रारम्भ किया था ! कर्ण के पैर, कुन्ती जैसे क्यों है—यही पता लगाने के लिए प्रयत्नरत हो उठे थे अजातशत्रु !

किन्तु उससे पहले पैरों का वह प्रथम दर्शन ! दर्शन से हुई स्तब्ध कर देनेवाली प्रतिक्रिया ! प्रतिक्रिया में पैदा हुए सवाल ?

ऐसा क्यों है ? ऐसा हो कैसे सकता है ? कर्ण कौन है ? और कुन्ती से क्या सम्बन्ध हो सकता है उसका ? नहीं है, तब पैरो में इतनी अद्‌भुत समानता क्यों कर रहे हैं ?

□□

द्रौपदी की प्राप्ति के लिए वे सब कसौटी पर कसे जा रहे थे···शाल्व,

शल्य, अश्वत्थामा, वक्र, कलिंगराज, बंगनरेश···अनेक राजा, वीर और अस्त्रकौशल से पूर्ण पराक्रमी पुरुष !

कसौटी बहुत कठिन थी। सभास्थल के बीचोंबीच एक छोटा-सा कुंड बना हुआ था, इस कुंड में तरल द्रव। कुंड के उपर, भवन की छत पर एक घूमता हुआ चक्र लटका हुआ था। चक्र के बीचोबीच एक मछली रखी गई थी। उस चक्र और मछली की छाया कुंड में पड़ रही थी। छाका को देखते हुए मछली पर निशाना लगाना था ! निशाने के लिए एक ओर धनुषबाण रखे हुए थे।

जो यह निशाना साधता, द्रौपदी उसीकी होती ! राजा द्रुपद, धृष्ट-द्युम्मन, शिखंडी आदि एक ओर बैठे हुए थे। उनके साथ द्रौपदी। बहुमूल्य वस्त्रभूषणों से सजी रुपवती कन्या सभी के मन-शरीर को उत्तेजना से उद्वेलित करती हुई। क्रमशः प्रतिस्पर्धी राजा उठ रहे थे, असफल हो रहे थे। अनेक तो धनुष ही नहीं उठा सके। कुछ ने उठा भी लिया तो उसकी प्रत्यंचा चढ़ाना ही उनके लिए असाध्य हो गया ···

धुरंधर महारथी, अतिरथी और रथी उठते बड़ी गौरव भरी चाल में, किन्तु घोर पराजय झेलकर अपमानग्रस्त पिटा-सा चेहरा लिए हुए वापस अपने-अपने आसन पर लौट आते। यही कुछ हो रहा था कि वह उठा !

वह यानी कर्ण !

घोषणा हुई थी—"पराक्रमी अंगराज कर्ण !"

सभी ने मृत्युंजय के तेजस्वी गौरवपूर्ण, तिस पर सोने की तरह दमकते शरीर और किरन-सी कौंधती आंखों में देखा। मृत्युंजय कर्ण श्रेष्ठतम धनुर्धरों में हैं, यह सबका जाना-समझा हुआ था···युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, सभी तो सहमकर देखने लगे थे कर्ण को ! कितनी ही बार युधिष्ठिर ने अकुलाकर उस पल नहीं सोच लिया था—"गई द्रौपदी ! सौन्दर्यमयी द्रुपद कन्या !" कर्ण के वीरत्व और संधान पर सन्देह नहीं किया जा सकता था !

भाइयां की ओर भी दृष्टि गई थी। लगा था कि वे भी निराश हो गए हैं। कर्ण आसन से उठ पड़े थे। दिव्य देह, बलिष्ठ और लम्बी भुजाएं, तेजमय दृष्टि, चौड़ा माथा और दमकता बदन···

युधिष्ठिर ने अनजने ही अपने भीतर अजब-सी मोहग्रस्तता अनुभव की थी कर्ण के प्रति। जब-जब कर्ण सामने होते थे, तब-तब युधिष्ठिर मुग्ध भाव से महावीर वृष का आभापूर्ण व्यक्तित्व देखते रह जाते थे! एक पल के लिए कर्ण के प्रति मन में सदा ही रहा चिन्ताभाव कहीं दूर छिटक जाया करता···

वैसे ही मोहग्रस्त होकर निहारने लगे थे वे कर्ण के प्रभावी व्यक्तित्व को—सिर से पैरों तक···दृष्टि चमकते कवच-कुण्डलों से उतरती हुई, भारी पुष्ट जंघाओं तक आई थी, फिर पिंडलियौ पर!

यह क्या? मोहग्रस्तता दृष्टि सहसा ही श्रद्धा से भर उठी! लगा था कि माता कुन्ती के पैर देख रहे हैं···वैसे ही मुलायम, नाजुक और सुगठित पैर! विश्वास नहीं कर पा रहे थे कि कर्ण की फौलादी देह को ये कोमल पैर थामे रहते हैं। आंखें अकुलाहट में भरी किरनों की तरह पैरों का मुआयना करने लगी थीं···आश्चर्य!

निःसन्देह आश्चर्य की ही बात थी। युधिष्ठिर उस क्षण सब कुछ भूल गए थे। स्वयंवर, द्रुपदकन्या का मोहक सौन्दर्य, उस सौंदर्य के कारण मन में उमड़ता-घुमड़ता काम-भाव, राजा द्रुपद की भव्य सभा, सभा में चुनौती बना हुआ वह संधान-चक्र! सब भूले हुए!

कर्ण की पिंडलियों से लेकर पंजों, टखनों अंगुलियों, नाखूनों···यहां तक कि चमड़ी के उतार-चढ़ाव में भी अद्‌भुत समानता थी कुन्ती से! एक पल के लिए अविश्वास कर लेना चाहते थे। अपनी ही दृष्टि को झुठला देना चाहते थे! अपने-आपको रोक लेना चाहते थे—"न! पहचानने में युधिष्ठिर ही भूल कर रहे हैं! यह पैर सूत-पुत्र कर्ण के हैं। कुरुवंश की महारानी कुन्ती के नहीं! युधिष्ठर की माता के नहीं!"

पर लगा था कि अपने ही भीतर, अपने-आपको नकारने की यह चेष्टा व्यर्थ है! सच यह है कि कुन्ती और कर्ण के पैरों में तनिक अन्तर नहीं। लेशमात्र भी नहीं। यदि एक चादर उढ़ाकर कर्ण को लेटा हुआ देखा जाय तो ये पैर किसी भी पांडुपुत्र को माता का विश्वास दिलासकते हैं!

और जाने कैसे मन हो आया था कि युधिष्ठिर उन्हें छुएं···हौले-हौले स्पर्श करें श्रद्धा व्यक्त करें!

मन को रोका—"धिक्कार है पांडु-पुत्र ! तुम कर्ण के चरण स्पर्श करना चाहते हो ? राधेय कर्ण के ! सारथी अधिरथ और राधा के पुत्र वसुषेण के ?

थूक का घूंट निकलकर इच्छा मन में ही घोंट ली थी। शायद न भी घोंट पाते, किन्तु तभी द्रुपद-कन्या की बिजली-सी तड़कती आवाज ने युधिष्ठिर को ही नहीं, सभी को चौंका दिया था—

युधिष्ठिर ने कर्ण के पैरों से दृष्टि हटाई, स्वर की ओर मोड़ी। द्रौपदी आसन छोड़कर उठ खड़ी हुई थीं। उनका सुन्दर चेहरा सहसा क्रोध और घृणा से भर गया था···स्वर आवेश में कांपता हुआ—"नहीं-नही ! रुक जाओ सूत-पुत्र ! रुको !"

कर्ण थमे। सबने आश्चर्य से कभी द्रौपदी, कभी कर्ण और कभी राज द्रुपद को देखा। चिन्ता उन सबके चेहरों पर इस तरह पुत गई जैसे घटना ने अपना रंग सारे वातावरण पर उंडेल दिया हो !

द्रौपदी कह रही थीं—"मैं सूत-पुत्र को वरण नहीं करूंगी !"

युधिष्ठिर ही नहीं, उपस्थित सभी घबरा गए थे। द्रौपदी ने सार्वजनिक रूप से अपमानित कर दिया था वसुषेण को ! और पराक्रमी वसुषेण का अपमान करना ऐसे ही था जैसे कोई सूर्य की सत्ता से इनकार करे ! सत्य को अनदेखा कर दे !

मन में एक शब्द वज्र की तरह लगा था—क्रूरतापूर्ण युद्ध ! होंठ कहने को व्याकुल हो उठे थे—"हां, वही होगा! द्रौपदी ने कर्ण को नहीं अनजाने ही सही किन्तु जाति-वर्णहीन पराक्रम को अपमानित कर दिया है। अनिष्ट स्वाभाविक !" लग रहा था कि हवाएं ठहर रही हैं···सूर्य उग्र होकर अग्निवर्षा करने लगे हैं···वसुषेण सभा भवन के बीचोंबीच थमे रह गए थे ! सब शब्दहीन ! दुर्योधन का चेहरा झुलसता हुआ।

एक गहरा श्वांस लिया था वसुषेण ने। युधिष्ठिर ने ही नहीं, सभी ने वह श्वांस सुना होगा। फिर दृष्टि सभा-भवन के विशाल प्रांगण से बाहर चली गई थी—आंखें कौंधीं, जबड़े भिचे, सहसा हंस पड़े थे वह—फिर श्वास उभरा. मुड़कर अपने आसन की ओर चल पड़े। शान्त होकर बैठ गए।

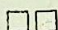
युधिष्ठिर को याद हैं—उस पल कितनी शान्ति अनुभव हुई थी सभी को। लगा था कि तूफान आते-आते थम गया है···प्रकृति सहज हो गई है···हवाएं पुनः चलती हुई—प्राणदायक वायु से झोंके मन-शरीर को आनन्द से भरते हुए।

प्रतिस्पर्धा के लिए अगला नाम पुकारा जा रहा था···

उससे भी अगला पुकार गया था···

द्रुपद-कन्या को पाने की होड़ चल रही थी···

किन्तु युधिष्ठिर की दृष्टि कब फिर से उन पैरों पर जा टिकी थी—उन्हें ही याद नहीं है। चाहकर भी भूल नहीं पा रहे थे—उन पैरों की समानता !



कब आंखें छलछलायीं, कब पलकों के बांध तोड़कर बहीं, कब बरस पड़ी—याद नहीं !

उस क्षण याद आया था, जब आंसुओं की कुछ बूंदें मृत्युंजय के पैरों पर जा गिरीं। मन को बहुत संभाला था, सदा की तरह विवेक जुटाए रखना चाहा था, किन्तु हो नहीं सका। युधिष्ठिर के होंठ कांपे, फिर जोर से रो पड़े। बुदबुदाते हुए—"अग्रज ! मेरे अग्रज !"

सूर्य डूबने को था···और उसकी सुनहरी अलसायी किरणें निश्चेष्ट पड़े कर्ण के शव को धीमे-धीमे दुलरा रही थीं। वायु के झोंके ममता का दुलार लिए हुए। तेजस्वी कर्ण के दमकते पैरों पर टिकी युधिष्ठिर की दृष्टि···दृष्टि में आंसू···कुछ आंसू मोतियों की तरह कर्ण के पैरों पर !

कहां हैं, क्या कर रहे हैं, क्या करना है—सब कुछ भूल गए थे उस पल। केवल पैरों को सहला रहे थे···जीवनहीन हो चुके वे पैर, जिनकी धमक ले दूर-दूरंत बड़े-बड़े योद्धाओं के दिल दहल जाया करते थे···वे पैर जिन्हें देखकर युधिष्ठिर का मन श्रद्धाभिभूत हो, उन्हें स्पर्श करने को व्यग्र हो उठता था···

अब स्पर्श कर पा रहे है ! तब, जब ये चरण प्रतिक्रिया नहीं देंगे ! तब, जब इनका स्पर्श वीर कर्ण के होंठों से अशीषों के फूल नहीं झरवा सकेगा ! तब, जब ये चरण थिरकेंगे नहीं !

हिलकियां बंध गईं···किसी ने इन हिलकियों को न सहारा देकर सम्हाला, न शब्दाश्रय देकर सहेजा···कौन सहेजेगा ?

कर्ण की माता कुन्ती ? भाई पांडव ? पूज्य धृतराष्ट और माता गान्धारी।

वे जब किसी और तरह उस निर्मम सत्य से आहत होकर छटपटा रहे होंगे, जिसने धर्मराज युधिष्ठिर के सारे विवेक को थर्रा डाला है। सारी बुद्धि कुंठित कर छोड़ी है। चेतना केवल आंसुओं में डुबो दी है !

सहसा एक स्वर ने टोका था उन्हें—"संयत हो पुत्र ! अपने पराक्रमी भाई के अन्त्य संस्कार की तैयारी करो !"

स्वर था कुन्ती का। युधिष्ठर ही नहीं, सभी भाई क्रोधावेश से भरकर माता को देखने लगे थे। धिक्कार, अवहेलना, लांछन और घृणा थी उन आंखों में। कोई कुछ बोल सके, इसके पूर्व ही विदुर ने स्थिति संभाली। कहा—"भावनावश समय-सत्य से परे हो जाना दुःखदायी होता है अजातशत्रु ! इस समय विगत पर शोक करने का नहीं है, उसके गुण-दोषों को समझने का है। उचित यही होगा राजन् कि मोह क्रोध, पीड़ा, शोक इन सब प्रतिक्रियाओं से अलग होकर केवल समय-सत्य का निर्वाह करो ! रात होने को है और अब तक तुम्हारे सबसे बड़े भाई कर्ण का शव अन्त्य संस्कार करने के लिए शेष है। चिता सजाओ !"

युधिष्ठिर ने उत्तर में कहना चाहा था—"किस तरह महात्मन् ? किस विलक्षण शक्ति को जुटाकर इस पल मैं यह कष्ट भूल सकूंगा कि मेरी माता के छल ने मुझसे ही अपने अग्रज की हत्या करवा डाली है। कैसे भूल सकूंगा कि मैं किसी के दोष के कारण निर्दोष होते हुए भी दोषी हो गया हूं ? मुझसे भाई की हत्या का काम महापातक हो गया है ?"

पर नहीं कहा। विदुर की शांत समुद्र-सी गहरी दृष्टि और वाणी की निर्मलता ने युधिष्ठर के भावावेश पर काफी कुछ किया। भाइयों से बोले थे। "गांडीवधारी ! अग्रज के अन्त्य संस्कार की तैयारी करवाओ !"

कुन्ती माथा दोनों हाथों में थामे हुए एक ओर बैठी थी चाहकर भी वे पुत्रों, परिवारजनों की ओर नहीं देख पा रही थीं। युधिष्ठिर ने सोचा था—"क्या उन्हें अपने दोष पर दुःख हो रहा होगा ?"

लगा था कि नहीं !

पर ऐसा कैसे हो सकता है ? उन्होंने स्वयं से ही प्रश्न किया—"जिस अतिरथी और दानवीर भाई की मृत्यु के शोक ने मुझ जैसे विवेकशील व्यक्ति को दुःख से दहला दिया है, उसकी माता पीड़ा अनुभव न करे ?"

अवश्य ही कुन्ती दुःखी हो रही हैं···असह्य पीड़ा से भरी हैं··· युधिष्ठिर ने दृष्टि घुमाई। देखा पवित्र गंगा तट पर कर्ण के लिए भाई-बंधु मिलकर चिता सजा रहे थे···अनायास ही मन फिर से भर आया···दृष्टि पुनः शव के पैरों पर जा ठहरी।

□□

द्रौपदी स्वयंवर के बाद जब-जब कर्ण सामने आते थे, अनचाहे ही युधिष्ठिर सन्देहभरे सैकड़ों ही प्रश्नों के साथ उनके पैरों को देखने लगते··· हर बार यह निश्चय मन में गहरी जड़ें जमाता चला गया था कि वह समानता यूं ही नहीं है !

केवल समानता ही तो नहीं थी ? लगता था कि अन्तर ही नहीं है ! फिर मन में तर्कातर्क होने लगे थे—कर्ण की बुद्धि, शरीर, रंग, प्रतिभा, शक्ति कुछ भी तो राधा या अधिरथ से मेल नहीं खाते थे ? सब जैसे चीख-चीखकर कहते हुए—"मैं सूतपुत्र नहीं हूं ! नहीं हूं ! कदापि नहीं हूं !"

सन्देह ने अनजाने ही युधिष्ठिर के मन में इतनी गहरी जड़ें पकड़ ली थीं कि उन्होंने निर्णय लिया था—किसी भी तरह हो, पता लगाएंगे कि ऐसा क्यों है ? कर्ण है कौन ? क्या सच ही राधा के गर्भ ने जनमा है उन्हें ? और अधिरथ के संसर्ग से उत्पन्न हैं वह ?

यहां-वहां पूछ-ताछ करके अनेक लोगों, अनेक सूत्रों से पता किया था। केवल यहीं तक सत्य को पा सके थे कि कर्ण राधा की गोद में पले हैं। उसी का दूध उनके रक्त में घुला हुआ है। अधिरथ के स्नेह ने उन्हें आयु दी है। स्वयंजात प्रतिभा ने उन्हें पराक्रमी बनाया है। कर्तृत्व के कारण अगराज हुए हैं। व्यक्तित्व और गुणों ने उन्हें दान शक्ति में असमान्य बना डाला है !

बहुत प्रयत्न किया था, फिर अपने ही भीतर एक तर्क खोज लिया था—"यह सब विधि का चमत्कार ! अति-सामान्य में असाधारण को जन्म देना ईश्वरीय शक्ति ही हो सकती है ! कर्ण वही शक्ति हैं !"

जिज्ञासा शान्त होगई थी इसके बावजूद मन कभी इस बात से सहमत नहीं हो सका था। जब-जब कर्ण सामने पड़ते, तब-तब सोया या सुला दिया गया। कौतूहल प्रश्नाकार लेकर फिर से उठ खड़ा होता—"यह समानता···?"

समय बीतता गया था। अक्सर कर्ण से मिलना, उन्हें देखना, उन्हें लेकर वार्ता करना, उनसे भयातुर रहना···और इस हर स्थिति में उनके और कुन्ती के पैरों की समानता याद करना—सहज हो गया था···

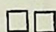
अभी—युद्धकाल में ही—जब कर्ण के अर्जुन द्वारा हत होने की सूचना मिली थी तो कर्ण के पैर याद हो आए थे युधिष्ठिर को। जाने क्यों कुछ पीड़ा अनुभव की थी उन्होंने, पर बिसरा दी थी···

केवल स्मरण रखी थी—जय ! कर्ण की मृत्यु का अर्थ था पांडवों की विजय।

सन्तुष्ट हो गए थे। शान्त।

क्यों न होते शान्त ? मृत्युंजय कर्ण को लेकर सदा ही भयग्रस्त रहे थे युधिष्ठिर ! याद आता है--पूरे तेरह वर्ष वीर कर्ण के भय से ग्रस्त युधिष्ठिर चैन की नींद नहीं ले सके !

कितना अच्छा होता, पहले जान सके होते कि कर्ण उनके अग्रज हैं !



"भइया !"

स्वर अर्जुन का था। भर्राया हुआ—और उदास।

युधिष्ठिर चैतन्य हुए अर्जुन की ओर देखा। उनके पीछे-पीछे शेष सभी भाई खड़े थे। विदुर, संजय आदि भी।

"चिता तैयार हो चुकी है, राजन् !" विदुर ने कहा—"अब महावीर वसुषेण का मृत शरीर उसपर रखो !"

युधिष्ठिर ने सुना। केवल देखते रह गए। शेष भाइयों ने यहां-वहां से कर्ण के शव को उठाने का उपक्रम आरम्भ किया। युधिष्ठिर मुड़े। पैरों की ओर से सहारा लगाया···

यंत्रवत् वे सभी शव उठाकर चिता तक ले गए। कठोर लकड़ियों पर उसे लिटाया गया !

कुलजनों ने शव की परिक्रमा की। मंत्रोच्चारण हुए, फिर दाह-संस्कार की क्रिया सम्पन्न हुई ! कुछ ही क्षणों में कर्ण की दिव्य देह को लपटों ने अपनी असंख्य बाँहों में भर लिया और तीव्रगति से आकाश की ओर बढ़ने लगीं !

वे सब लकड़ियों की चिटचिटाहट सुनते हुए शोकग्रस्त पड़े उन ज्वालाओं को देखते रहे । बहुत देर तक अपने-आपको थामे रहे सब भाई एक बार पुनः बिलख उठे···

कुन्ती एक ओर अपराध-भाव से ग्रस्त बैठी हुई थीं। जी होता था कि प्रथम परिणय के उस फूल की अन्तिम शरीर गंध लें, उन ज्वालाओं की ओर देखें जो उसके तेज को समेटने की चेष्टा कर रही थीं—समेटने की चेष्टा कर रही थीं या आत्मसात् कर रही थीं ?

पर नहीं ? साहस नहीं हो रहा था।

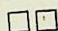
कुछ समय बाद जब ज्वालाएं अधिक तेज हो गईं और उन्होंने कर्ण की कठोर अस्थियों को चटकाना, चीखना प्रारम्भ कर दिया तो सभी लोग उनके प्रभाव-क्षेत्र से कुछ परे होकर बैठ गए !

युधिष्ठिर टकटकी बांधे हुए देखते रहे···उन लपटों में भी उन पैरों को खोजते हुए, जैसे वे पैर नहीं जल रहे थे, युधिष्ठिर स्वयं जल रहे थे ! सहसा बोल पड़े थे—"माता ! इस क्षण मुझे लगभग वही असह्य वेदना झेलनी पड़ रही है जो इन लपटों में जलते हुए महावीर मृत्युंजय को झेलनी पड़ रही होगी ! तुमने उनके जन्म को रहस्य में रखकर घोर अनर्थ किया ! विश्वास करो, अभिमन्यु और सम्पूर्ण कौरवों के संहार ने भी मुझे इतना कष्ट नहीं पहुंचाया, जितना इस समय हो रहा है ! यह जानकर कि वीर कर्ण मेरे भाई थे, मुझे द्रौपदी के पांचों पुत्रों की मृत्यु से भी हजारगुना कष्ट हो रहा है ! यह सोचकर मैं अपने आपको महापातकी और हत्यारा अनुभव कर रहा हूं कि मेरे ही नेतृत्व में मेरे ही सगे बड़े भाई मारे गए ! यह तुमने हम लोगों से किस कारण बैर किया—मेरी समझ से बाहर है !"

कुन्ती उत्तरहीन सिर झुकाए बैठी थीं। सभीकी आंखें उनकी ओर उठी हुईं। एक ओर खड़े कृष्ण सहमी-सी दृष्टि से युधिष्ठिर को देख रहे थे। धर्मराज को इतना व्यग्र और उत्तेजित कभी नहीं देखा था उन्होंने। बहुत

चिन्तित हुए थे। कुछ कहें, इसके पूर्व ही युधिष्ठिर फिर-फिर धिक्कारने लगे थे कुन्ती को—"तुमने बहुत बड़ा दोष किया है आर्ये! कर्ण का जन्म-रहष्य छिपाकर तुमने अकारण ही सम्पूर्ण कौरव-वंश का नाश करवा डाला है! तुम ही दोषी हो, जिस कारण हमारे भाई-बांधवों, परिवारजनों और सुकुमार पुत्रों का यह क्रूर नरसंहार हुआ है! यदि तुमने पहले यह बतला दिया होता कि कर्ण हमारे भाई हैं तब मैं दुर्योधन से कभी युद्ध न करता! यही नहीं, संभवतः दुष्टबुद्धि दुर्योधन ही यह साहस न कर पाता कि वह हमसे युद्ध करे! तब शायद कौरव-कुल का इस तरह नाश होने से बच जाता!"

वे सब चुप थे! सब क्षुब्ध! सब किसी-न-किसी रूप में कुन्ती के प्रति रुष्ट। विदुर और कृष्ण चिन्तित कि धर्मराज युधिष्ठिर की व्यग्रता कहीं किसी अनिष्टकार स्थिति को जन्म न दे दे···वह खोज सकें, इसके पूर्व ही युधिष्ठिर उठ खड़े हुए थे···कोई कुछ पूछ सके या जानने का प्रयत्न करे—युधिष्ठिर ने किसीको अवसर ही नहीं दिया था। वह तेज चाल में दूर नदी किनारे चले गए थे···इतनी दूर की चिता दृष्टि से ओझल हो जाए!



किन्तु चिता ओझल नहीं हो पा रही है! लगता है कि अब भी दृष्टि के सामने है। उसी तरह चटकती, तड़पती प्रश्न के बाद प्रश्न करती हुई। हर प्रश्न पर युधिष्ठिर या तो चुप हो जाते हैं या फिर डर जाते हैं?

कर्ण! उनका अपना भाई। उनका अग्रज!

लगता है हर कौंधती लपट के साथ सामने आ खड़ा होता है—पूछता हुआ—"युधिष्ठिर! तुम धर्मा-धर्म के ज्ञाता हो? नियम-नियामक। बतलाओ तो, तुम्हारे किस धर्म, सत्य और समाज के न्याय-नियम ने मुझे यह क्लेषकर जीवन और मृत्यु दी?"

युधिष्ठिर भयभीत हो उठते हैं। अदृश्य की ओर देखते हुए। दृष्टि के सामने है गंगा, धुंधलके में धीमे-धीमे गुम होती हुई गंगामाता···पर मन चिताओं की लपटों से जुड़ा हुआ···प्रश्न अग्नि में झुलसता हुआ···

"उत्तर दो, युधिष्ठिर? धर्मराज?"

उत्तरहीन हैं युधिष्ठिर ! अकेले युधिष्ठिर ही नहीं, सम्पूर्ण व्यवस्था और समाज-नियम !

कर्ण—व्यक्ति नहीं, एक प्रश्न है। प्रश्नों के अनंत झुंडों का एक वृक्ष-वत् प्रश्नाकार ! इस प्रश्नाकार ने हचमचा डाला था युधिष्ठिर को। कर्ण को लेकर धर्मा-धर्म का निर्णय लेना होगा उन्हें। न लेना चाहें तब भी उनका खोजी मन उन्हें यह निर्णय लेने या खोजने के लिए बाध्य कर देगा ! उसके पहले युधिष्ठिर को शायद अपने-आप भी खोजना पड़े। अपनी माता कुन्ती के सत्यासत्य का अन्वेषण भी करना पड़े !

थके, चिढ़ने लगे···अपने से ही कह बैठे थे—"कर्ण ने सदा अविवेक से काम लिया ? वह दुर्योधन की दुर्बुद्धि बना। द्वेष, षड्यंत्र, बैरभाव उसने अपने स्वभाव बना लिए···"

किन्तु···

युधिष्ठिर घबरा गए हैं। यह किन्तु उनके अपने आत्म से उठा है या कर्ण की चिता ने झुलसता हुआ अंगारा उन पर उछाल दिया है। यह अंगारा एक प्रश्न। कालखंड का एक सत्य।

"कर्ण से पूर्व तुम अपना विश्लेषण तो कर देखो, धर्मराज ? याद करो उस क्षण को, जब तुमने कर्ण को हत करने के लिए कूटजाल की रचना का पहला धागा फैलाया था···? याद करो, शल्य से हुई अपनी भेंट ? तुम्हें वह सब याद करना होगा युधिष्ठिर ! हर पल का हिसाब देना होगा !"

□□

कौरव-पांडव सेनाएं आमने-सामने थीं।

कौरवराज दुर्योधन लाखों सैनिकों, हजारों रथियों, अतिरथियों, महा-रथियों के साथ रण-क्षेत्र में खड़ा हुआ था···दोनों ही पक्षों के वीर एक-दूसरे को चुनौती-भरी निगाहों से देख रहे थे। और युधिष्ठिर रथारूढ़ होने के पूर्व सहसा आगे बढ़कर कौरव-सेना की ओर चल पड़े थे···

एक शोर बिखर गया था सब ओर। कौरव-पक्ष के लोग तरह-तरह से निन्दा करने लगे थे पांडवों की। किसीकी राय में युधिष्ठिर का कौरवों की ओर आना इस बात का द्योतक था कि वह भयग्रस्त होकर राजा दुर्योधन से समझौता करने बढ़े आ रहे हैं और किसी की सम्मति में भयग्रस्त और

कायर पुरुष की तरह कौरव-पक्ष के सामने अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करने आ रहे हैं···

किन्तु युधिष्ठिर स्वभावतः परिवारजनों, वृद्धों से युद्ध-पूर्व विजयाशीष हेतु गए थे। उनके पीछे अनेक राजा, योद्धा और अन्य पांडव···

क्रमशः भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य सभी से मिले थे युधिष्ठिर···और बाद में पहुंचे थे शल्य के सामने। आदरपूर्वक प्रणाम किया था, फिर बोले थे—"मामाजी! युद्ध-पूर्व मैं आपसे विजयाशीष मांगने आया हूं। मुझ पर अपनी कृपा और वरद को बनाए रखें।"

शल्य, कौरव-पक्ष के अन्य वृद्ध-योद्धाओं की तरह दुविधा में पड़े। राजा युधिष्ठिर विनम्र स्वर में जो निवेदन कर रहे थे, उसे टालना संभव न था और दूसरी ओर नैतिक रूप से वह दुर्योधन के उपकार से लदे हुए थे। कहा था—"चिरंजीवी हो कुन्तीपुत्र! तुम्हारी इच्छा सुनकर मुझे आनंद हुआ है, किन्तु यह तो तुम्हें ज्ञात ही है कि मैं कौरवकुल-श्रेष्ठ दुर्योधन के साथ के लिए वचनबद्ध हूं। ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारी या तुम्हारे पक्ष की युद्ध में कोई सहायता नहीं कर सकूंगा। इसके अतिरिक्त यदि तुम कुछ कहो तो वह देने में मुझे प्रसन्नता होगी।"

कुछ पल सोचते रहे थे युधिष्ठिर? होंठ भींचे, चुप रहे।

याद हो आया था—मद्रपति शल्य रथ-संचालन में श्रीकृष्ण के बराबर पटु हैं। यह भी सुन रखा था कि कर्ण चाहते हैं कि शल्य ही उनका रथ-संचालन करें। एक गहरा श्वांस लेकर मामा की ओर देखा था, बोले—"मैं आपकी स्थिति समझ पा रहा हूं मामा, और यह भी जानता हूं कि आप मन से हम पांडुपुत्रों के साथ ही हैं। सक्रिय-रूप से आप हमारे लिए कुछ कर सकें या न कर सकें, किन्तु सहानुभूति के रूप में बहुत कुछ कर सकते हैं उतना ही करें, यह चाहता हूं।"

शल्य ने उत्तर नहीं दिया था। मुसकराये—युधिष्ठिर को टकटकी बांधे देखते रहे जैसे पूछ रहे हों—"क्या चाहते हो सहानुभूति के रूप में?"

युधिष्ठिर ने कहा था—"मुझे ज्ञात है, वीर कर्ण का रथ आप ही चलाएंगे।"

"तुमने सही सुना है, कुन्तीपुत्र!···मैंने सूत-पुत्र को वचन दिया है।"

"तब मैं चाहता हूं महाराज, कि आप तेजस्वी कर्ण को निरन्तर अपमानित करते रहें, इस तरह के शब्द कहें और विगत-कथाओं का वर्णन करें कि प्रतापी सूत-पुत्र का उत्साह और तेज नष्ट होता जाए…वह झुंझलाने लगें और उनके संधान असंयत हो जाएं ! हमारे लिए आप इतना कर सकें, वही आपकी ओर से हमें आशीष बन जाएगा।"

शल्य कुछ समय शान्त रहे। धर्मराज को इस तरह देखा था जैसे उनकी प्रशंसा कर रहे हों—कह रहे हों—"मुझे ज्ञात नहीं था अजातशत्रु तुम जितने धर्मज्ञ हो, उतने ही नीतिज्ञ भी हो—आज समझा !" अन्त में शल्य ने कहा था—"तुम प्रसन्न हो युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूंगा !"

□□

और युधिष्ठिर सचमुच प्रसन्न होते गए थे…जैसे-जैसे समाचार मिलते थे कि मद्रपति रथारूढ़ होने के साथ ही कर्ण ओ अपमानित और प्रताड़ित करने वाली बातें करने लगते हैं, वैसे-वैसे प्रसन्न होते थे…

पर आज वही सब याद कर युधिष्ठिर खिन्न हैं ! खिन्न ही क्यों, मृत्युवत् कष्ट झेल रहे हैं ! कैसा अनर्थ किया ? अपने ही अग्रज को तेजहीन करने का षड्यंत्र किया था उन्होंने ![1]

ये समाचार भी तो मिलते रहते थे कि अनेक बार शल्य और कर्ण के बीच उत्तेजित वार्ता इस सीमा तक जा पहुंची थी कि वे पररस्पर कर-दूसरे को समाप्त कर डालने की बातें कहने लगे थे ! निस्सन्देह युधिष्ठिर का वांछित वर पूर्ण कर दिया था उनके मामा मद्रपति शल्य ने, पर यह वर था या कटु जाल !

कर्ण के षड्यंत्रों, बैरभाव और छलों को याद करते समय यह भी तो याद रखना होगा युधिष्ठर को ?

"केवल यही नहीं, युधिष्ठिर !" मन फिर मुखर हो उठा है। उसकी

१. युधिष्ठिर ने शल्य से अपनी सहायता के नाम पर कर्ण को निरन्तर निन्दित करके निस्तेज करने का वचन लिया है। महाभारत : भीष्म पर्व : के ४३वें अध्याय में श्लोक-क्रम —८० से ८५ तक युधिष्ठिर और शल्य का संवाद।

स्वरहीनता के बावजूद युधिष्ठिर उसे सुन पाते हैं। उनके हर कुरेदते, घाव करते प्रश्न का वार झेलते हैं—"तुम्हें बहुत कुछ याद करना होगा ! उस सबको याद करने के बाद ही सत्यासत्य की तुम्हारी खोज पूरी होगी, जिसकी साधना तुम बाल्यावस्था से ही करते आए हो !

युधिष्ठिर चुप बैठे हैं। गंगा अन्धकार में घिरकर अब केवल गतिस्वर से पहचानी-देखी जा सकती है। यहां-वहां अपने ही वंश के लता-पत्रों जैसे लोगों के शव जल रहे हैं···उनकी चिताएं या तो इस दूरी से सुर्ख रक्त की धाराओं जैसी लगती हैं या फिर मृत्यु-तांडव करते नाशदेवता की याद दिलाती हैं !

मन होता है कि स्वयं को संभालें, कहें—"मुझे इस खोज से मुक्त कर दो, मेरे मन ! जानता नहीं था कि जिस संसार प्रयोगशाला में सत्यासत्य खोज करने चला हूं, उसका एक पात्र स्वयं भी बनूंगा ! कोई नहीं जानता कि हर चुप में मुझे कितना रोना पड़ता है। मेरी हर शान्ति किस कदर बेचैनी और पीड़ा के कोलाहल से भरी होती है ?···"

पर यह कह पाना भी वश में नहीं। वश में है केवल खोजना···दूसरों को नहीं, उनसे पहले अपने-आपको खोजना···आनंद और पीड़ा से लेकर प्राप्ति-अप्राप्ति के हर पल को अपने ही भीतर से निकालकर तार-तार उधेड़ना ! युधिष्ठिर का सत्य यही है !

युधिष्ठिर हैं भी केवल यही !

कर्ण से कई शिकायतें हैं। उससे कई गुना शिकायतें रहेंगी अपनी ही माता कुन्ती से !

पर सबसे अधिक शिकायतें और सवाल युधिष्ठिर को अपने प्रति भी रहेंगे। अपने-आप से करने होंगे !

कितना अच्छा होता कि युधिष्ठिर—युधिष्ठिर न होते ! किसी राज-पुरुष की तरह जी लेते या मर जाते। या किसी सेवक की तरह जनमते और बीत जाते; पर विधि का निर्णय ?

वैसा कुछ भी न हुआ। भाग्य ने अलग निर्णय किया उन्हें लेकर। जन्म दिया राजकुल में, मन दे दिया ऋषि का, स्थितियां राजनीति और कूटजाल की प्रवृति उचित-अनुचित की दुविधा से ग्रस्त होकर परिस्थितियों

के बीच खिलौने की तरह खेलते जाने की। युद्ध-कला सीखते हुए भी मन श्लोकों से जुड़ा रहता। राजभवन में रहकर भी इच्छाएं-कामनाएं संन्यासी की तरह सोचने को बाध्य करतीं···

पर कहीं, किसी भी स्तर पर तो पूरी तरह जी नहीं सके युधिष्ठिर। किसी पल सहज शांत, सरल नहीं रह पाए। किसी बार चैन नहीं पाया। बहुत कष्टकर जीवन !

सोचते थे कि शाश्वत मूल्यों की खोज कर रहे हैं। सत्य का निरूपण कर जाएंगे। मानव-धर्म के कभी न टूटने वाले नियम खोज निकालेंगे··· किसी और को भले ही न बतला सकें, स्वयं जानकर सन्तुष्ट होंगे। उपलब्धि का आनंद पाएंगे। जीवन सहज हो लेगा।

पर अब लगता है कि बहुत जानकर बहुत कष्ट पा रहे हैं। इस जानने-पाने या खोजने के प्रयत्न में अपने-आपको ही भूल गए ! जब याद आया है, तब यही तय नहीं कर पा रहे हैं कि कौन से हैं युधिष्ठिर ?

वह जो पांडवों के अग्रज हैं ? या वह जो इस महासमर की बुनियाद में अधिकार और न्याय-पक्ष के नेता बने हैं ?

या वह जो कुन्ती के गर्भ से धर्म के अंश बनकर जनमे हैं ? या वह जो सामान्य मनुष्य हैं ?

कौन से युधिष्ठिर सही हैं ? इस एक शरीर-रूपी युधिष्ठिर के भीतर कितने ही युधिष्ठिरों का एक समूह मौजूद है ? इसी में से एक निश्चित रूप-व्यक्तित्व खोजकर चुनना होगा। तभी युधिष्ठिर पहचाने जा सकेंगे !···

संन्यासी मन वाले युधिष्ठिर ? या जीवन-जगत के हर पहलू में धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए छटपटाते तर्कशील विद्वान युधिष्ठिर ?

युधिष्ठिर राजपुरुष हैं। वही तो हैं जिन्होंने इस महासमर का निर्णय लिया ? युधिष्ठिर एकदम सहज मनुष्य हैं—अति-साधारण, जिनके भीतर काम जागता है, जो युद्ध में झूठ भी बोल जाते हैं, जो किसी के हत होने पर सोचते हैं और जो किसी के हत हो जाने पर सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं ! जो कर्ण के न मर पाने पर दुःखी होते हैं।

"बोलो, अजातशत्रु ! उत्तर दो ! इतने युधिष्ठिरों में तुम कौन-से

हो ? क्या परिचय है तुम्हारा ? कौन-सा व्यक्तित्व सच है और कौन-सा कर्तव्य सही हैं ?"

□□

युधिष्ठर को लगा था कि अन्धकार के बावजूद उनके अपने चारों ओर वह अपने-आपको ही देख पा रहे हैं···अपने अनेके चेहरे, अपने अनेक व्यक्तित्व, अपने ही अनेक रूप ?···

हर चेहरा मुसकराता है। कहता है—"कहो, युधिष्ठिर कि तुम मुझ-जैसे हो !" और फिर वे सारे चेहरे एक साथ चीखने लगते हैं कि युधिष्ठिर स्वीकार लें, वह उस-जैसे हैं !

इन आवाजों ने व्यग्र कर दिया है उन्हें। ये चेहरे, व्यक्तित्व सदा ही युधिष्ठिर के भीतर लड़ते आए हैं। अपनी-अपनी सत्ता युधिष्ठिर पर बनाए रखने के लिए !···एकमात्र अपना ही शासन युधिष्ठिर पर चलाए रखने के लिए !

और युधिष्ठिर किसी बार अपना एक रूप, एक व्यक्तित्व, एक चेहरा तय नहीं कर सके। अवश, अपने ही हाथों, अपने ही व्यक्तित्व में व्यक्ति न होकर केवल रण-क्षेत्र बने रह गए !···किसी बार कोई व्यक्तित्वहारा, किसी बार कोई चेहरा हताहत हुआ···अनेक घटनाएं हैं विगत की, कोई घायल होकर कराह रही है, कोई हंसती हुई ! जीवंत मनुष्य ! जड़ रणभूमि !

मन कहता है—स्वीकार लें—"हां, सम्भवतः मेरा सत्य यही है !" पर वह भी नही स्वीकार पाते। आवाजों से घबराकर बड़बड़ा उठे थे—"नहीं ! मैं सत्याराधक हूं। धर्मराज युधिष्ठिर !"

"तब तुम्हें बतलाना होगा युधिष्ठिर, कि तुम द्रोणाचार्य की मृत्यु के लिए असत्य क्यों बोले ?" मन ने आरे की तरह चीरता हुआ प्रश्न कर दिया है···

युधिष्ठिर चुप हो रहे हैं···उत्तर खोजेंगे। खोजें, उसके पूर्व लगता है वह प्रश्न चित्रवत् गंगा की लहरों से उफनकर उठ आया है···

अवाक् अपने ही चेहरे को देखे जा रहे हैं युधिष्ठिर ! युधिष्ठिर के अनेक चेहरों में से —एक चेहरा ! वह जो कुरु-क्षेत्र के महायुद्ध में एकपक्ष है। केवल नेता नहीं, एक सम्पूर्ण तर्क !

मन हुआ था कि कह दें—"उस समय वही उचित था ! समय-सत्य !" पर बोलें, इसके पहले ही आत्म अधिक जोर से आरी चलाने लगा है तर्क पर। कहता है—"किन्तु तुम तो शाश्वत सत्य के वाहक रहे हो युधिष्ठिर ? समय-सत्य की बात कैसे कर सकते हो ? तुम्हें धर्मराज कहा जाता रहा है ?"

उस समय आचार्य द्रोण ने भी तो यही कहा था सबसे—"यदि धर्मराज भी यही कह देंगे तब मैं विश्वास कर लूंगा !"

□□

वे बेचैन थे। प्रतिपल कोई-न-कोई अशुभ और दुःखदायी समाचार आ रहा था। हर समाचार निराशा को गहरा और गहरा करता हुआ···

कृष्ण, अर्जुन, भीम, और युधिष्ठिर। कुछ पलों के लिए युद्धभूमि में ही एक सुरक्षित स्थान देखकर वे मंत्रणा के लिए आ खड़े हुए थे। सबकी आंखों में प्रश्न—सबके होंठों से ही शब्द, "अब···?"

उत्तर में हर चेहरा निराश, हर दृष्टि अकुलायी हुई। हर व्यक्ति को पराजय-बोध की थकान झेलता हुआ।

कृष्ण बोले थे—"दुर्दांत आचार्य से यदि बचना है तब केवल एक मार्ग है।" उनके स्वर में दृढ़ता थी। चेहरे पर निश्चय का पथरीलापन।

"वह क्या, यदुश्रेष्ठ ?" अकुलाकर युधिष्ठिर ने प्रश्न किया था।

"धनंजय उनसे युद्ध करें !" कृष्ण बोले थे।

"मैं ? यह क्या कहते हो वासुदेव ?" अर्जुन चिन्तित हुए, उससे कहीं अधिक व्यग्र। बड़बड़ाए—"नहीं-नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है ? आचार्य द्रोण पर शस्त्र उठाना मेरे लिए दुष्कर है !"

"बुद्धि से काम लो पार्थ !" श्रीकृष्ण आगे बढ़े, स्नेह और आश्वासन भरी हथेली अर्जुन के कन्धे पर रखी। कहा—"महारथी द्रोणाचार्य आज जिस गति और शक्ति से रण-क्षेत्र में आए हैं, उसे देखकर लगता हैं जैसे पांडव सेना बहुत देर नहीं टिक सकेगी ! थोड़े समय में ही, सब कुछ नष्ट हो जाएगा। तुम सभी का न्याय और अधिकार का यह समर तुम्हारे लिए पराजय की घोषणा कर देगा !"

"किन्तु देवकीनंदन ?" अर्जुन भावुक हो उठे—"यह कैसे संभव है कि

जिन आचार्य ने मुझे सबसे अधिक स्नेह दिया है, जो वचनबद्ध हैं कि मैं संसार का श्रेष्ठतम धनुर्धर सिद्ध होऊंगा, उन्हीं पर हथियार उठाऊं ?"

कृष्ण ने अप्रभावित भाव से उसी सहजता के साथ उत्तर दिया था—"युद्ध और राज्य नीति से चलाए जाते हैं गांडीवधारी, भावावेग और संवेदना भर से नहीं। तुम इसी कारण आचार्य को हत कर सकोगे क्योंकि वह तुम्हारे प्रति हर शिष्य की तुलना में अधिक स्नेहाकुल है, अधिक मोहग्रस्त हैं, वचनवद्ध भी हैं ! तुम्हें गांडीव के साथ अपने सामने आया देखकर ही महारथी द्रोण का वह वेग हलका हो जाएगा, जिसने पांडव सेना में भगदड़ मचा दी है ! जिसके कारण चारों ओर पांडवों के रथी-अतिरथी, कीड़े-मकोड़ों की तरह मरते जा रहे हैं !···बुद्धि से काम लो, पार्थ ! गांडीव उठाओ !"

"नहीं, कृष्ण !···नहीं ! यह असम्भव है !—मेरे लिए नितांत असंभव है !" कहकर लड़खड़ाए हुए से अर्जुन एक ओर खड़े रथ में जा बैठे थे।

अब वे तीन रहे—भीम, युधिष्ठिर और कृष्ण।

कृष्ण कह रहे थे—"मैं स्पष्ट देख रहा हूं, पार्थ, कि युद्धज्ञ आचार्य को इस समय हत करना किसी भी मनुष्य के वश में तो दूर, देवताओं के वश में भी नहीं है। वे अब भी जिन शक्तियों से सम्पन्न हैं, उनका एकत्रीकरण किसी एक व्यक्ति में होना न तो संभव है, न ही है ! और द्रोणाचार्य के जीते-जी पांडवों की विजय की कल्पना भी नहीं की जा सकती, अपितु यह निश्चित जानो कि थोड़े ही समय में पांडवों की पराजय अवश्य होगी ! क्या अब भी तुम अपने विचार पर दृढ़ रहोगे ?"

श्रीकृष्ण की कौंधती बातों के बावजूद अर्जुन चुप रहे। वह सब कुछ सुन पा रहे थे, किन्तु द्रोणाचार्य के प्रति मन में गहरी गुरु-भक्ति ने उन्हें जड़ कर दिया था। उन्होंने निराशा अवश्य अनुभव की थी, पर दुष्परिणाम जानते हुए भी गुरु-वध के लिए तैयार न थे।

श्रीकृष्ण समझ गए थें कि अर्जुन को उनके निश्चय से डिगा पाना सम्भव नहीं। युधिष्ठिर व्यग्र होते जा रहे थे···पूछा, "तब क्या होगा यशोदा नंदन ?"

कृष्ण मुसकराए, धीमी आवाज में उत्तर दिया—"क्या इतना सब सुन

लेने के बाद भी आपको बतलाना होगा धर्मराज कि क्या होना है?··· आचार्य की संहार लीला देख-सुन रहे हो, फिर भी पूछते हो कि क्या होगा? क्या देख नहीं रहे कि थोड़े समय बाद सम्पूर्ण पांडव-पक्ष की मृत्यु निश्चित है! इसलिए कि आचार्य का जीवन अभी तक निश्चित है!"

श्रीकृष्ण के शब्द समाप्त ही हुए थे कि युद्ध-भूमि से दौड़ा हुआ एक संदेशवाहक आ पहुंचा?···"देव!···देव?..." वह लड़खड़ाता हुआ रक्त से सराबोर युधिष्ठिर के चरणों में गिरा।

हड़बड़ाए हुए युधिष्ठिर ने उसे संभाला, पूछा, "अपने को संभालो, वीर? क्या होगा?···तुम इतने व्यग्र···?"

"देव!···रक्षा कीजिए, पांडवों-सेना की!···" वह हांफ रहा था। पलकों को बार-बार भींचता और उपस्थित लोगों को देखने का प्रयत्न करता। उसके माथे से इतना लहू रिस रहा था कि पलकों पर धारें लगी हुई थीं···रक्त से भीगी वे भयावह आंखें युधिष्ठिर को बेचैन कर गईं।

"आचार्य द्रोण ने पांचाल देश के बीस हजार से अधिक योद्धाओं का संहार कर डाला है, राजन्!···वसुदान मारे जा चुके हैं और सात्यकि ने कहलवाया है कि यदि शीघ्र ही आचार्य नहीं मारे गए तो···तो···"

"बोलो? बोलो, वीर?" पर लगा कि युधिष्ठिर की अपनी आवाज उनके अपने ही कानों में गूंजती रह गई है। संदेशवाहक सैनिक का सिर उनके हाथों में ही झूल गया था।

"अब उसके बोलने और आपके सुनने के लिए क्या शेष रह गया है धर्म-पुत्र?" कृष्ण हंसे—दृष्टि में व्यंग्य था, हल्की-सी पीड़ा भी।

वे सब चुप हो रहे—सहसा श्रीकृष्ण ने कहा था—"अब एक ही मार्ग बचा है प्रजानाथ?"

"वह क्या?" युधिष्ठिर ने प्रश्न किया।

कृष्ण के पास ही बैठे विषादग्रस्त अर्जुन की ओर व्यंग-भरी दृष्टि से देखा और उत्तर दिया—"धनंजय को पहले ही बतला चुका हूं, राजन्! अब आप भी सुनें।" उन्होंने मार्ग बतलाया था—"अश्वत्थामा!"

"अश्वत्थामा?" भीम चकित हुए। नासमझ ढंग से श्रीकृष्ण को देखने लगे।

"हां, अश्वत्थामा !" श्रीकृष्ण कहे गए—"आचार्य द्रोण अपने पुत्र को अत्यधिक स्नेह करते हैं। यदि इस समय धर्म-अधर्म का विचार त्याग कर उन्हें किसी तरह निःशस्त्र किया जा सकता है, तो उसका मार्ग केवल अश्वत्थामा है।[1]

"मैं···मैं समझा नहीं, श्रीकृष्ण ?"

"समझाता हूं, कुन्तीनन्दन !" कृष्ण ने धीमे किन्तु बहुत गंभीर स्वर में बतलाया था—"यदि आचार्य द्रोण को इस समय यह सूचना दी जाए कि उनका पराक्रमी पुत्र अश्वत्थामा युद्ध में हत हुआ···तब वे शोकग्रस्त होकर अस्त्र त्याग देंगे ! ऐसे अवसर का लाभ उठाकर उन्हें निःशस्त्र स्थिति में कोई भी साधारण व्यक्ति मार सकेगा !"

"नहीं-नहीं यह तो अनर्थ होगा—पाप !" अर्जुन बौखलाए हुए से उठ बैठे।

"तुम शांत रहो, पार्थ ! विचार करो ! यह युद्ध-स्थल है—पुण्य-पाप निश्चित करने का धर्म-स्थान नहीं।" श्रीकृष्ण के स्वर में इतनी कठोरता थी कि अर्जुन सहमकर चुप हो गए, पर आंखें कह रही थीं कि वह उनसे तनिक भी सहमत नहीं हैं।

भीम ने कहा था—"हां, यह ठीक है। मैं ऐसा ही करता हूं···" वह जाने को हुए, तो कृष्ण ने रोक दिया था—"नहीं महावीर !···तनिक थमो।"

भीम प्रश्नातुर रुक गए।

श्रीकृष्ण ने बड़ी मीठी मुसकान के साथ कहा था—"असत्य से अधर्म होता है, कुन्ती-पुत्र ! मेरी इच्छा है कि अधर्म न हो !" फिर वह बोले—"तुम सब यहीं रुकना, मैं अभी आता हूं !"

इस सारी बातचीत में युधिष्ठिर जड़वत् खड़े रहे थे। बहुत बार मन

---

१. महाभारत के : द्रोणपर्व : के १९०वें अध्याय में ही श्लोक-क्रम १०-१२ पर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"···धर्म-अधर्म का विचार छोड़कर इन्हें (द्रोण को) जीतने का—शस्त्र त्याग कराने का—कोई उपाय तुम लोगों को करना चाहिए !"

होता था कि इस सबसे सहमत न हों, किन्तु वह भी तो मन ही था, जो कहता—"सच ही तो कहते हैं कृष्ण ! यह युद्ध-स्थल है—पुण्य-पाप निश्चित करने का धर्म-स्थल नहीं !"

□□

कुछ देर बाद कृष्ण लौटे। भीम से कहा था—"एक साधारण-सा कार्य करके तुम्हें तुरन्त लौटना होगा, भीमसेन !···वह तुम्हारे लिए पलों का काम है !"

"सो क्या, वासुदेव ?" भीम ने पूछा।

हकबकाए हुए-से अर्जुन और युधिष्ठिर देखते रहे।

श्रीकृष्ण ने कहा—"मालवराज इन्द्रवर्मा थोड़ी ही दूर पर युद्धरत हैं ! ···तुम जाकर उनके हाथी का बध कर आओ—बस ! शेष सब मैं संभाल लूंगा ! तुरन्त जाओ !"

भीमसेन वायु-गति से चले गए। श्रीकृष्ण चुप थे। धर्मा-धर्म की गहरी ऊहापोह में डूबे युधिष्ठिर सहसा बोल पड़े—"तुम पर श्रद्धा करता हूं वासुदेव, पर ऐसा कुछ न करवा देना जो अनीति बन जाए !"

"राजन् !" श्रीकृष्ण ने गंभीर और सागर की तरह गहरे स्वर में उत्तर दिया था—"नीति-अनीति, कर्मक्षेत्र में शुभाशुभ के विचार पर आधारित होती हैं। उचित और अनुचित घटना से नहीं, घटना के कारण से निश्चित किए जाते हैं, अतः उसी सब का विचार करें और अपने-आपको अधिक दुविधाग्रस्त न होने दें !"

"पर···" युधिष्ठिर कुछ कहना ही चाहते थे कि भीमसेन ने पुनः प्रवेश किया। उनके चौड़े, वज्रवत् सीने पर पसीने की हलकी बूंदें थीं। आंखें विजय-भाव से दपदपाती हुईं। कहा था—"वासुदेव ? तुम्हारी इच्छा पूर्ण हुई ! इन्द्रवर्मा का हाथी मारा गया ?"

श्रीकृष्ण ने चौंकने का अभिनय किया—"यानि···यानि तुम कह रहे हो, कुन्ती-पुत्र कि अश्वत्थामा मारा गया ?"

अर्जुन ने घबराकर श्रीकृष्ण की चंचल आंखों में देखा। युधिष्ठिर बुरी तरह हड़बड़ा गए—"···यह···यह सब क्या हो रहा है, श्रीकृष्ण ? मुझे बतलाओ तो ?" चेहरे पर कुछ समझ न पाने की वेदना उभर आई।

श्रीकृष्ण तुरन्त नहीं बोले। धर्मराज के व्यग्र चेहरे और उखड़ी दृष्टि को कुछ पल देखते हुए जैसे निश्चित करते रहे थे कि क्या कहना चाहिए, क्या नहीं ? फिर मृदु स्वर में कहा था—"यही एकमात्र रास्ता शेष रहा था कुन्तीनन्दन !···यही एक तरीका था कि आचार्य द्रोण को निःशस्त्र कर दिया जाए ! अब, अब वीर भीम उन्हें समाचार देंगे कि अश्वत्थामा मारा गया तब निश्चय ही शोक-विह्वल आचार्य अस्त्र रख देंगे और उस स्थिति में उन्हें पांडव-सेना का कोई भी योद्धा सुविधा से हत कर सकेगा !"

"किन्तु यह तो असत्य होगा, वासुदेव ?" अर्जुन एकदम उठ खड़े हुए। उत्तेजित, व्यग्र।

श्रीकृष्ण शांत रहे। पूछा, "क्यों, असत्य क्यों होगा ?" प्रश्न इस भोलेपन से किया गया था कि प्रश्नकर्ता स्वयं की बात पर ही संदिग्ध हो जाए।

"यही कि अश्वत्थामा मारे गए !" अर्जुन ने कहा—"पर अश्वत्थामा तो नहीं मारे गए हैं ?"

"यहां यह तो स्पष्ट नहीं किया जाएगा अर्जुन कि अश्वत्थामा, जो द्रोणपुत्र हैं, वह मारे गए या कि मालवराज का हाथी अश्वत्थामा मारा गया ?" कृष्ण ने प्रश्न किया।

"फिर भी यह सत्य तो नहीं है···" अर्जुन ने पूछा।

"नहीं, वासुदेव धर्मानुसार यह आचरण असत्य ही कहलाएगा !" युधिष्ठिर तुरन्त विवेचना कर उठे थे।

"मैं पूर्व में ही कह चुका हूं राजन् ? यह अवसर धर्म और अधर्म पर विचार करने का नहीं, जय-पराजय का है।" श्रीकृष्ण ने कहा था—"फिर अर्जुन या युधिष्ठिर कुछ कह सकें, इसके पूर्व ही उसी सरल-स्वर में भीम से बोले थे—"जाओ महावीर !···अपने गुरुदेव को समाचार दे दो !···"

भीम तुरन्त चल पड़े।

कितना रोकना चाहा था उस पल भीम को, पर युधिष्ठिर बोल नहीं सके। अवसर ही नहीं मिला था। अवसर नहीं मिला या कि जान-बूझकर चुप रह गए थे, यह भी निश्चित नहीं कर पा रहे हैं।

लगता है कि अब भी तय करना कठिन है ! उस क्षण चुप रहे थे या

बोलने का अवसर नहीं मिला था ?

मन ने फिर से आरा चला दिया है—"नहीं, कुन्तीपुत्र ! सच केवल यह है कि तुम जान-बूझकर चुप रहे थे···वह दुखदायी असत्य तुमने जान-बुझकर घटने दिया था। तुम चाहते तो भीम को रोक सकते थे—कह सकते थे—"नहीं, भाई ! जय मिले या पराजय, किन्तु मैं अधर्म के माध्यम से धर्मयुद्ध नहीं लड़ूंगा !"

अन्धेरे में भटकती नजरें चिताओं की लपटों पर जा ठहरती हैं···और लगता है कि विगत का हर गुण-दोष एक प्रश्न या समाधान बनकर उनके अपने भीतर सुलग उठा है। किसी पल धुआं बनकर सम्पूर्ण आत्मा को घेर लेता है और कभी सत्य की लपट बनकर मस्तिष्क को झुलसा डालता है !

जय पा ली है···पर बार-बार लगता है कि अपने भीतर इस जयबोध के अनुभव से भरे गहरे पराजयबोध की खाइयों में ढुलकते चले जा रहे हैं।···प्रश्न बाढ़ की तरह उमड़कर युधिष्ठिर के हर कमजोर तर्क को इस तरह बहाकर निःशेष कर देता है जैसे वहां कभी कुछ था ही नहीं ! था तो इस कदर माटी के ढेले-सा तर्क था जो भूमिसात् हो गया। प्रश्नभूमि पर ही विलीन !

मन निरन्तर अपराध-बोध से दबाये जा रहा है—"श्रीकृष्ण ने धर्म-युद्ध लड़वाया था, पर उसमें कितनी-कितनी बार अधर्म के प्रतिकार में अधर्म ही नहीं हुआ ?···वह भी धर्मराज के जरिए अधर्म ?···"

"हां, दोष हुआ ! अपनी ही विश्वसनीयता और श्रद्धा का धर्मरथ जनता के बीच मैंने गिरा दिया ! कितना अच्छा होता उस दिन आचार्य के प्रति दोषी न होता ?"

केवल आचार्य के प्रति क्यों ! उस दिन समूचे धर्म के प्रति दोषी हो गए थे युधिष्ठिर।

भीम ही नहीं, बहुतों के निरन्तर यह कहने पर कि 'अश्वत्थामा मारा गया !' वृद्ध द्रोणाचार्य विश्वास करने को तैयार नहीं थे !

एक बार पुनः चिन्ता ने ग्रस लिया था पांडव पक्ष को। उससे अधिक चिन्तित पांडव और श्रीकृष्ण।

अब क्या हो ?···किस तरह आचार्य विश्वास कर सकेंगे इस बात पर

कि अश्वत्थामा हत हुए ?

भीम बोले थे—"वासुदेव, वह कहते हैं कि उन्हें केवल धर्मराज से यह समाचार सुनकर विश्वास हो सकता है और भइया···?" भीम के शब्द अधूरे छूट गए थे। अकुलायी दृष्टि युधिष्ठिर पर जा ठहरी थीं। आंखों में संकोच भर गया था। पलकें झुक गईं।

श्रीकृष्ण तीखी, कुरेदती आंखें युधिष्ठिर पर ठहराये हुए, जैसे पूछ रहे हों—"अब क्या विचार है, अजातशत्रु ? ब्रह्मन् द्रोणाचार्य केवल तुम्हारी बात पर ही विश्वास करेंगे···और पांडवों के शुभार्थ इस समय तुम्हें यह कह ही देना चाहिए !"

"भइया ?···" अर्जुन बुदबुदाये।

"नहीं-नहीं, यह असंभव है !" युधिष्ठिर झुंझलाये हुए से अलग हटने लगे—"भला मैं ऐसा असत्य भाषण कैसे कर सकता हूं ?"

"यह जानते हो न धर्मराज कि आचार्य की संहारलीला यदि कुछ समय और चल गई तो···" श्रीकृष्ण ने उन्हें टोका था।

"बिलकुल नहीं ! कुछ भी हो, किन्तु मैं असत्य नहीं बोलूंगा !"

"अपने लिए नहीं पुरुष श्रेष्ठ, सम्पूर्ण पांडव सेना के शुभार्थ तुम्हें इस समय यही मार्ग अपनाना चाहिए···जिस गति से द्रोण पांडव पक्ष का नाश कर रहे है, उसमें न केवल हजारों जीवन बचाने का प्रश्न उपस्थित है, अपितु न्याय पक्ष की जय भी प्रश्नवाचक बन चुकी है ?···

'किन्तु वासुदेव ?···' युधिष्ठिर के कोमल चेहरे पर बेबसी उभर आई थी।

"क्या तुम जय नहीं चाहते राजन् ?" श्रीकृष्ण ने प्रश्न किया। स्वर तीखा था, उससे भी कहीं अधिक लग जाने वाला।

"चाहता हूं, पर···"

"तुम्हारा हर किन्तु तर्कहीन है राजन् ! तर्क है केवल असत्य भाषण !" श्रीकृष्ण गंभीर और कठोर स्वर में कहे गए—"याद रखो, राजन् ! विपत्तिहीन मनुष्यों का जो धर्म होता है, वही विपत्ति में पड़े पुरुषों का धर्म नहीं होता। अतः धर्म का निर्णय आसानी से कर पाना संभव नहीं है।"

युधिष्ठिर की आंखें श्रीकृष्ण के प्रभावशाली चेहरे पर टिकी थीं। लग

रहा था जैसे वह बोल नहीं रहे हैं, अपरोक्ष रूप से ज्योति-किरणों की तरह अपने तर्क युधिष्ठिर के मन-मस्तिष्क में उतारे जा रहे हैं।

भीम बोले थे—"यह समय दुविधा का नहीं है, भइया···?"

अकुलाकर युधिष्ठिर ने भाई को देखा। लगा कि द्रोण के पराक्रम से भयग्रस्त होकर भीम का वीरत्व तेज हलका होने लगा है। मन भर आया था।

श्रीकृष्ण ने कहा—"जीवन बचाने के लिए मिथ्या भाषण से पाप नहीं लगता धर्मराज—यह शास्त्रों में लिखा है। आचार्य द्रोण जिस निर्ममता से अस्त्र-विद्या में अनिपुण लोगों का संहार किए जा रहे हैं, उसे देखते हुए आपका यह सब कहना बहुत आवश्यक है।···दुविधा में मत पड़िए राजन्! चलिए और कह दीजिए कि अश्वत्थामा मारा गया!"[1]

बात समाप्त करके श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के कन्धे पर हाथ रखे हुए उन्हें उस दिशा की ओर ले चले थे, जिधर द्रोणाचार्य थे।

और युधिष्ठिर मंत्रमुग्ध इस तरह चलते गए थे जैसे उनका सोचना-समझना बन्द हो गया था। श्रीकृष्ण के मोहक उपदेश ने उन्हें कुछ क्षणों के लिए बांध लिया था।

श्रीकृष्ण उस समय भी कहे जा रहे थे—"राजन्! इस समय यही शुभ है···यही श्रेष्ठ है···और यही धर्म है!"

"अच्छा, ठीक है—यशोदा नन्दन! चलो।"

भयावह कोलाहल और मारक अस्त्र-शस्त्रों से भरे उस रणस्थल में पहुंचकर युधिष्ठिर यंत्र-भाव से चलते हुए आचार्य द्रोण के सामने जा खड़े हुए थे। उनका सिर झुका हुआ था, शब्द टूटते हुए—"आपने स्मरण किया देव?"

"हां, पुत्र!" आचार्य तरकश से तीर निकालते हुए कहने लगे—

---

१. महाभारत: द्रोणपर्व: अध्याय-१९०वें में श्लोक-क्रम ४५ से ५० के बीच श्रीकृष्ण द्वारा युधिष्ठिर से यह कथन आया है—"···आप मिथ्या बोलकर अपनी सेना की रक्षा कीजिए। ऐसे अवसर पर सत्य बोलने की अपेक्षा झूठ बोलना ही अच्छा है। जीवन बचाने के लिए मिथ्या भाषण से मिथ्यावादी होने का पातक नहीं होता!"

"अभी-अभी पुत्र भीमसेन ने आकर मुझे बतलाया कि अश्वत्थामा मारा गया।...क्या यह सत्य है धर्मराज ?"

एक पल के लिए युधिष्ठिर को लगा था कि उनके पैर डगमगाए हैं... गला अवरुद्ध होने लगा है, किन्तु स्वयं को संयत किया मन में मिथ्या बोलने का घोर भय काट रहा था, किन्तु साथ-साथ विजय अभिलाषा भी थी।"[1]

"तुम जानते हो युधिष्ठिर कि मैं तुम पर धर्मदेव की तरह ही निष्ठा रखता हुं, तुम्हारा विश्वास करता हूं। कहो ?"

"...अश्वत्थामा मारा गया, आचार्य !" युधिष्ठिर अपनी सम्पूर्ण चेतना शक्ति जुटाकर बोल गए, अगले ही पल बुदबुदाकर जैसे उन्होंने अपने से ही कह लिया था..."पुरुष नहीं, हाथी !"

पर द्रोणाचार्य उनके अगले शब्द सुन नहीं सके ! ओह !' कहकर जोर से कराहे, अगले ही पल उनका तेज डूब गया। शरीर निश्चेष्ट होने लगा। उल्लास भंग हो गया।

युधिष्ठिर को लगा था कि रो पड़ेंगे वह...उलटे कदमों इस तरह लौटे थे, जैसे द्रोणाचार्य की दृष्टि से भाग रहे हों ! कायर की तरह !

हां उस पल कायर ही हो गए थे वह ! किन्तु आचार्य द्रोण से नहीं, अपने-आपसे कायर हो उठे थे ! अपने से पराजित ! अपने से ही थके हुए !

स्मरण करते हैं तो इस पल भी भागने को मन होता है।

किन्तु अपने आपसे कहां भाग सकेंगे युधिष्ठिर !

और अब तक भाग भी कौन पाया है ?

फिर युधिष्ठिर तो इस आत्मचिंतन की बेला में किसी से नहीं भागना चाहते ! उनका अपना आप या कोई और।

याद आता है, उस दिन आचार्य से असत्य-भाषण करके लौटते समय

---

१. महाभारत : द्रोणपर्व : के १९०वें अध्याय में युधिष्ठिर ने अपनी और अपनी सेना की रक्षार्थ झूठ बोला—"अश्वत्थामा मारा गया !" फिर धीरे से कहा "मनुष्य नहीं, हाथी !" यही महाभारतकार ने लिखा है "...एक ओर मिथ्या बोलने के पातक का भय था और दूसरी ओर विजय की अभिलाषा (युधिष्ठिर को) थी !" श्लोक-क्रम ५१ से ५५ तक।

वे शरीर से भले ही न भागे हों, पर मन से जरूर भागे थे।

धर्मराज को इस कायर भाव के साथ भागने की आवश्यकता क्यों हो गई थी ? क्या इसलिए कि वे जानते थे कि सदा की तरह मन दोहरेपन में ही जिया था ? एक मन था, जो मिथ्या बोलने के पातक से भयभीत था और दूसरा विजय-अभिलाषा का स्वप्न संजोए हुए !

"यह झूठ है !" वह अपने आप पर झुंझला पड़े हैं—"एकदम झूठ ?"

अन्धेरे के भीतर से एक उपेक्षा भरी हंसी उभरी है। शायद उनकी अपनी ही हंसी—"तब···तब सच क्या है, युधिष्ठिर ?"

"सच ?" वह चौंकते हैं—बुदबुदा पड़े हैं। आंखें अन्धकार में अर्थहीन ढंगसे इधर-उधर भटकती हुई, जैसे कुछ खोजने को व्यग्र हों ?

"सच को खोजना नहीं पड़ता अजातशत्रु ? सत्य एक स्थापित तर्क है।" कुछ शब्द हैं जो अदृश्य से उभरकर युधिष्ठिर के कानों में गिरते जा रहे हैं···उनके अपने शब्द हैं या उनके सत्य के—इसे तय करने के फेर में नहीं पड़ेंगे युधिष्ठिर। केवल उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

"···हां, स्थापित तर्क···सत्य !" उस अदृश्य का स्वर गूंज बन गया है—युधिष्ठिर के तन-बदन से लेकर आत्मा की गहराइयों तक में गूंजती हुई एक आवाज, "उसे खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ती, कुन्तीनन्दन ! वह सदा-सर्वदा एक शिला की तरह अडिग रहता है। समत-काल की सीमाओं से आगे, अविचलित—एक रूप ? वह क्षण की तरह धाराओं में बहता नहीं, वह रूप-रंग रस से हीन ऐसा साक्षात् है, जिसका अस्तित्व सदा बना रहता है, जिसके अस्तित्व को नकारकर नकारा नहीं जा सकता। जिसे विस्मरण करके भी विस्मृत नहीं किया जा सकता !"

युधिष्ठिर आवाक् सुने जा रहे हैं···पूछना चाहते हैं—"तुम कौन हो ? कहना क्या चाहते हो ?"

और उस अदृश्य ने जिसे युधिष्ठिर के भीतर का सवाल सुन जान-लिया है। कहता है—"मैं तो वही हूं पाण्डुपुत्र, जिसका अस्तित्व तुम यह प्रश्न विचारकर स्वीकार रहे हो ? मैं तुम्हारा सम्पूर्ण गत, आगत और वर्तमान हूं···जो तुम्हारे रहते कभी मिटेगा नहीं, जो तुम्हारे न रहने पर भी सदा अस्तित्वमान रहेगा। मेरे हर प्रश्न का उत्तर दो धर्मराज ! इन उत्तरों के

बिना तुम न विजयी हो, न युधिष्ठिर और न ही वह सत्यवाहक, जिसने वृद्ध आचार्य से छल करके भी नहीं किया !'''

"पर···पर मैंने छल नहीं किया !" युधिष्ठिर को लगता है कि उनकी आवाज रुंधने लगी है···जली लाशों की गंध ने नाक में समाकर मन बेचैन कर दिया है। सासें घुटती हुई-सी लग रही हैं···जी होता है कि उठ जाएं और वापस बचे परिवारजनों तक पहुंचे, किन्तु···शरीर साथ नहीं दे रहा है। पैर जड़ हो गये लगते हैं। अदृश्य से गूंजे आत्मा के इन आरोपों को अस्वीकार कर देना चाहते हैं कि उन्होंने द्रोणाचार्य से छल किया ! कहते हैं—"शास्त्रों में कहा गया है कि स्त्री के निकट हास-परिहास में, वृत्ति के हेतु वैवाहिक संबंध आदि को लेकर और अपने प्राण संकट में पाकर गाय अथवा ब्राह्मण की रक्षार्थ यदि असत्य बोला जाए तो उसका पातक नहीं लगता !"

एक हंसी फिर उभरी है···उखड़ जाना चाहने हैं, युधिष्ठिर। लगता है कि मन उनका संयम ही तोड़ने लगा है···चीख पड़ना चाहते हैं—"तुम ···तुम हंसते क्यों हो ?"

इसलिए युधिष्ठिर कि तुम सत्यशोधक होते हुए भी सत्यासत्य के विवेचन से कतरा रहे हो···तुम्हारी विडम्बना ही यह है कि तुम सदा सत्य के स्थापक नहीं, केवल सत्य के लिए प्रयोग भर रहे हो !"

"किन्तु सत्य की स्थापना किसी प्रयोग से ही होती है !"

"और प्रयोग जब, जिस पर होता है, वह किसी बार निष्कर्ष दे पाता है किसी बार नहीं !"

"पर मैंने सदा सत्य-मूल की स्थापना की है, यक्ष के हर प्रश्न को क्या तुमने नहीं सुना था ? और उसके जो उत्तर मैंने दिये थे···"

"भूलते हो—बुद्धि-विवेक से जिस मूल्य की घोषणा व्यक्ति कर सकता है, वह जीवन में उस तरह व्यवहृत कर पाए—आवश्यक नहीं है ! तुमने केवल सत्य की उद्घोषणाएं की हैं, स्वयं के जीवन में जब-जब मूल्य या विचार उभारने का प्रश्न आया, तब-तब तुम कतरा गये हो···तब-तब तुम निर्णय-अनिर्णय की ऊहापोह में रहे हो, तब-तब तुम निश्चय से अधिक दुविधा बन गये हो !"

…?" स्तब्ध हो गये हैं युधिष्ठिर।

और आत्म है कि एक धुंआ बनकर उनके मन-मस्तिष्क पर छाया हुआ। विगत का हर क्षण धुंए में चित्र बनाता हुआ…यह चित्र जितना मथते हैं, उससे कहीं अधिक अपने आप पर पुर्नविचार के लिए बाध्य कर देते हैं।

धुंए में प्रश्न है…प्रश्नों में चित्र। इन चित्रों को चुपचाप देखते जाना ही उनकी नियति…

युधिष्ठिर स्तब्ध बैठे हुए। सिर्फ अपने ही दर्शक।

□□

"भइया ?"

चौंके। मुड़कर देखा। दूर जलती लपटों से रह-रहकर जो रोशनी उभर आती है, उसमें पहचाना—अर्जुन सामने खड़े थे। उनकी अपनी ही तरह विषादग्रस्त, बोझिल मन लिए।

"माता कुन्ती ने स्मरण किया है आपको।" अर्जुन ने सूचना दी।

उठ पड़े। यंत्रवत् साथ हो लिए।

महात्मन् ! यही तो कहा था अर्जुन ने। सोचते गये—"महात्मन् कहलाते हो तुम ? धर्मात्मा भी। क्या सच ही उस तरह जी पाए हो ? जीने का प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु ?"

याद हो आया है, एक बार विदुर बोले थे—"तुम राजगृह में तपस्वी भाव से जीवन बिताने वाले महामानव हो युधिष्ठिर ! तुम एक साथ महात्मा और राजपुरुष हो ?"

मन हंसने को हो आया है—"यह भी दुविधा भरा चरित्र ! एकसाथ महात्मा और राजपुरुष ! विचित्र बात है। जिस राजनीति का अर्थ ही साम, दाम, दण्ड, भेद होता है, वहां महात्मा कैसे रह सकता है ? या कि कोई महात्मा रहकर उस तरह राजनितिज्ञ कैसे रह सकता है ?"

अपने से ही कह उठे हैं—"हां, तुम ठीक ही कहते हो…अब तक जैसे सारा जीवन-कर्म दुविधा बनकर ही बीत गया ! कभी मनुष्य रहने की चेष्टा की, कभी राजनीतिज्ञ बनकर जी लेना चाहा और कभी महात्मा बने रहकर सबके सामने श्रेष्ठत्व जुटाया रखना चाहा…कितना हो पाया ?"

"कुछ भी नहीं !"

अपने से ही सहमत होते हैं—"हां, कुछ भी नहीं ! पर सहमत नहीं होंगे। हो पाये होते तो द्रौपदी के भाइयों में विभाजन की वह योजना ही क्यों रखी होती ?

"मगर सहमत न हो सके तब तुम्हें बहुतेरे प्रश्नों का उत्तर देना होगा धर्मराज ?" मन फिर प्रहार कर उठा है···तुम्हें बतलाना होगा कि तुमने द्रौपदी को लेकर भाइयों में विभाजन क्या केवल इसी कारण किया था कि तुम सभी भाइयों में शांति चाहते थे ? या तुम भी द्रौपदी के प्रति उसी सामान्य भाव से आसक्त ही नहीं, कामातुर हुए थे, जेसे अन्य हुए थे ? द्रौपदी को तुमने भी तो उसी तरह चाहा था···? उत्तर दो !"

"झूठ है यह ! मैंने—मैंने उस समय जब कि अर्जुन ने मुझपर ही धर्मार्थ के अनुसार द्रौपदी को लेकर माता का आदेश निबाहने का दायित्व छोड़ा और उसके पांच पति होने का प्रस्ताव सुना, तब यही सोचा था कि कहीं रूपवती पांचाली के कारण भाइयों की एकता नष्ट न हो जाए···अतः उसका पांच की पत्नी होना ही आवश्यक है !" लगा कि चलते-चलते ठोकर खा गए हैं···

"सच !" व्यंग्य भरा ही प्रश्न था।

"हां···हां, यही सच हैं···"

"एक बार फिर ठीक से याद कर लो, धर्मराज ! कहीं अपने से ही भाग तो नहीं रहे हो ?"

अब उत्तर नहीं दे पाएंगे···हांफ गए हैं···चलते-चलते अर्जुन के कंधे पर हाथ रख लिया है।

अर्जुन चिन्तित स्वर में पूछते हैं "क्या हुआ भइया ?"

"कुछ-कुछ नहीं, ऐसे ही। थकान हो गई है बहुत !" युधिष्ठिर बड़बड़ा उठे हैं···"इस महायुद्ध ने बहुत थका दिया है किरीटी !" उन्होंने कहने को कह दिया है।

किन्तु क्या महायुद्ध ने ही थकाया है उन्हें ?

नहीं ! थका रहा है उनका अपना-आप। युधिष्ठिर के भीतर सहसा जागृत हो उठे धर्मराज थका रहे हैं उन्हें। मन की अनंत गहराइयों तक

उलीच डाला है उन्होंने !

□□

शब्द गूंज रहे हैं···"एक बार फिर याद कर लो, धर्मराज ! कहीं अपने से ही भाग तो नहीं रहे हो ?"

लगता है कि भाग रहे थे, पर नहीं भाग सके।

विगत-सत्य ने जकड़कर गिरा दिया हैं उन्हें···द्रौपदी स्वयंवर की बात ! पर जमीन तो स्वयंवर से बहुत पहले ही पड़ गई थी। उसी पल, जब वारणावत[1] की आग से बचकर माता के साथ पांचों भाई यहां-वहां आसरा लेते घूम रहे थे···

□□

एक चक्रानगरी में रह रहे थे कुन्ती और पांडव। सब ओर खबर थी कि पांडु-पुत्र माता सहित वारणावत की आग में जल मरे। महर्षि वेदव्यास की सहायता से माता-पुत्रों को एक ब्राह्मण के यहां निवास की सुविधा मिली थी। भिक्षाटन करके ब्राह्मण वेष में रहते हुए पांडव समय काट रहे थे। उन्हीं दिनों एक अन्य ब्राह्मण आ पहुंचा था उस मेजबान ब्राह्मण के यहां··· उसी से द्रौपदी के स्वयंवर का सारा समाचार सुना था कुन्ती और पांडवों ने।

पान्चालराज[2] द्रुपद, उनकी अपरिमित राजशक्ति, धन-वैभव के अतिरिक्त वहीं पांडवों और कुन्ती को उनके परिवार की जानकारी मिली थीं। ब्राह्मण ने बतलाया था—"राजा द्रुपद शीघ्र ही अपनी पुत्री का स्वयंवर करने जा रहे हैं···उनकी पुत्री अनिंद्य रूपवती है। उसे लेकर निश्चय ही राजपुरुषों में भारी प्रतिस्पर्धा होगी···वह एक साथ रूप, रस और गुण की

---

१. वारणावत—मेरठ से उत्तर पश्चिम की ओर, लगभग १८ मील दूर स्थित बर्नावा नामक ग्राम क्षेत्र, जो हस्तिनापुर के ही पास पड़ता है।

२. पांचाल प्रदेश : यह राज्य दिल्ली के उत्तर पश्चिम में हिमालय की तराई तक और दूसरी ओर चम्बल नदी (तत्कालीन चर्मणवती) तक फैला हुआ था। बाद में यह दो भागों में बंट गया और एक भाग, जो गंगा से हिमालय तक था, उत्तर पांचाल कहलाने लगा, तथा दूसरा भाग, जो गंगा के दक्षिण से चम्बल तक बिखरा था, दक्षिण पांचाल नाम से जाना गया।

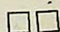
अद्भुत मूर्ति हैं···"

उत्सुक होने लगे थे सभी···कुन्ती ने देखा था कि ब्राह्मण द्वारा बार-बार अत्यंत रोचक और चित्रात्मक ढंग से द्रौपदी के सौन्दर्य का बखान सुनकर सभी भाई उसके प्रति गहरी उत्कंठा और उत्सुकता से भर उठे थे···

और ब्राह्मण था कि पर्यटन में जुटाए ज्ञान और जानकारी का बहुत रोचक वर्णन करने वाला। वह द्रौपदी का जब वर्णन कर चुका तब उसने बतलाया था—"पांचालराज द्रुपद, कभी के अपने मित्र और धृष्ट युद्धाचार्य द्रोण से बहुत दु:खी हैं। वह द्रौपदी के बहाने अपरोक्ष रूप से एक ऐसा राज-सम्बन्ध बनाना चाहते हैं जो किसी दिन द्रोण से बदला लेने के काम आए ! इस दृष्टि से यह स्वयंवर बड़ा महत्त्वपूर्ण होने वाला है !"

"द्रौपदी जैसी गुणवती स्त्री के लिए कौन श्रेष्ठ पुरुष लालायित न हो जाएगा, ब्रह्मन् !" सहसा ही बड़बड़ा गए थे युधिष्ठिर। अचानक अपने को रोक लिया था उन्होंने। लगा था कि जितना बोल गए हैं, उतना बोलना उचित न था।

"तुमने उचित ही कहा है वत्स ! द्रौपदी है ही ऐसी !" एक बार फिर बड़ी रसमय आवाज में ब्राह्मण रूप-रंग का कवितामय वर्णन सुनाने लगा···



लगता था कि वे शब्द समूचे वातावरण में घुल-मिल गए हैं···हर श्वांस के साथ उनकी गूंज महक बनकर मन में समा जाती है। हर शब्द पुतलियों के आगे तूलिका की भांति चित्र खींचता हुआ-सा। कल्पना-आकाश का सपाट कागज रंगबिरंगी मोहक आकृतियां बनाता हुआ···

युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों के साथ बाहरी प्रकोष्ठ में सोये हुए थे। कई बार करवटें बदली थीं उन्होंने, कई-बार पलकें खोलीं—छत की ओर गड़ा दीं।

पांचाली ! रूप, रस, रंग का अद्भुत सामंजस्य !

ब्राह्मण रात्रि-भोजन के बाद जब विदा हो गया तब कुन्ती अपने बेटों से द्रौपदी को लेकर ही चर्चा करती रही थीं···कहा था—"राजा द्रुपद और ब्राह्मणश्रेष्ठ द्रोणाचार्य में बाल्यावस्था से ही गहरी मित्रता थी, किन्तु भाग्य ने उन्हें एक-दूसरे का परम् शत्रु बना दिया···सहज ही है कि द्रुपद के यहां

जिस किसी का सम्बन्ध बनेगा, वह राजनीतिक दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होगा।"

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन माता के सरल चेहरे पर दुष्कर राजनीति का तनाव देख रहे थे···युधिष्ठिर का मन हुआ था कि पूछें, किस तरह की राजनीति? किन्तु उस पल टोकना उचित नहीं समझा था। केवल सुनते रहे।

कुन्ती ने कहा था—"राजा द्रुपद से खिन्न होकर ही द्रोणाचार्य पितृ भीष्म के पास आये थे। पितृ द्वारा उन्हें राजसेवा में लिए जाने के बाद द्रुपद सम्पूर्ण कुरु-वंश से ही अप्रसन्न हैं···द्रौपदी के माध्यम से पांचालराज का सम्बन्ध किसी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति और राज्य से होने जा रहा है। इस कारण भी यह स्वयंवर बहुत महत्त्वपूर्ण होने वाला है।"

युधिष्ठिर के भीतर उठा प्रश्न सहसा उत्तर पा गया था! द्रौपदी का आकर्षण अनायास ही सही, किन्तु कुन्ती की नीति-वार्ता के बाद बहुत बढ़ गया···

कितना बढ़ चुका है—यह—महसूस हुआ था रात्रि के समय। युधिष्ठिर बहुत चाहते थे कि संयम बटोरे रहें। ब्राह्मण द्वारा पांचाली की रूप प्रशंसा को भुला दें···गहरी नींद सो जाएं, किन्तु संभव नहीं हो सका था!

हर करवट जैसे एक बेचैनी बनकर सांसों में समा जाती···पांचाली! अन्धेरे में पलकें खुलतीं-मुंदती और याद हो आता कि द्रौपदी लम्बे, घने काले केशोंवाली हैं···दृष्टि के आगे ज्योति-किरणों की तरह कुछ शब्द कौंध जाते···सुगठित अंग, बड़े-बड़े नेत्र और बदन से उठती नील-कमल-सी सुगन्ध![1]

१. 'आदिपर्व' के १७१वें अध्याय में श्लोक क्रम १ से ११ तक एक ब्राह्मण द्वारा द्रौपदी के जन्म और उसके सौन्दर्य की चर्चा सुनकर निम्न पंक्तियां आई हैं—"—ये वाक्य सुनकर कुन्ती के महाबली पुत्र द्रौपदी के लिए बहुत ही उत्कंठित हुए। हृदय में जैसे किसी ने बाण मार दिया हो, इस तरह बेचैनी से उन्होंने वह रात काटी। कुन्ती ने समझ लिया कि उनके सब पुत्र अद्वितीय सुन्दरी कृष्णा के लिए उत्कंठित हो रहे हैं। सबका मन द्रौपदी में लगा हुआ है—" आगे यह वर्णन है कि कुन्ती ने सभी भाइयों को राजा द्रुपद के देश चलने को कहा।

गहरा श्वांस उबलता···एक उच्छवास बनकर प्रकोष्ठ के शून्यवत अन्धकार में कहीं गुम जाता···

पर···? ध्यान किया था युधिष्टिर ने—अर्धरात्रि तक जागते रहने के दौरान उन्होंने देखा था कि भीम कइ-कई बार उठे हैं। कुछ पल अपने आसन पर शान्त बैठे रहे हैं···फिर लेट गए हैं।

अर्जुन कितनी ही बार प्रकोष्ठ के बाहर गए···फिर लौटे···

क्या वे भी युधिष्ठिर की ही तरह पांचाली के रूप-रंग सौन्दर्य का वर्णन सुन-जानकर बेचैन होगे ?

संभवत:···!

संभवत: नहीं, निश्चित !

और उन सबसे अलग सोई हुई कुन्ती। पर कुन्ती का अर्धरात्रि में उठकर दीवार से सटे रहना असहज नहीं लगा था युधिष्ठिर को। अक्सर वह इसी तरह बेचैन होकर रात-रात जागती रहती थीं। कभी भविष्य की दुश्चिन्ता से ग्रस्त, कभी भाग्य चक्र की उद्दंडता को कोसती हुई···

युधिष्ठिर ही नहीं, संभवत: वे सब जान रहे थे कि एक-दूसरे के भीतर क्या कुछ घट रहा हैं !

सबके भीतर द्रौपदी ही घट रही थी। उसी तरह, जिस तरह युधिष्ठिर के बीच घट रही थीं···प्रतिपल, प्रतिक्षण, प्रति-श्वांस के साथ !

पर कोई नहीं जानता था कि वह कुन्ती के भीतर भी घटी हैं। उनसे कहीं अधिक वेग और विचार के साथ।

उस समय युधिष्ठिर नहीं समझे थे। उस समय तो उनका कहना बहुत सहज-भाव से ही लिया था पांचों ने···अगली भोर के साथ ही कुन्ती ने प्रस्ताव किया था—"हमने ब्राह्मण श्रेष्ठ को बहुत कष्ट दिया, पुत्र !··· इस क्षेत्र को देख-समझ भी लिया है, अत: कहीं किसी और नगर-क्षेत्र में चलकर रहें तो कैसा रहेगा ?"

छोटे पुत्र बहुत उत्साहित हुए, "हां, माता !···तुम उचित ही कहती हो। बार-बार इसी जन-क्षेत्र को देखकर अब वह आनंद नहीं मिलता, जो पहले-पहले आया था···"

"पर हम चलें कहां, आर्ये ?" युधिष्ठिर बोले थे। क्या यही बोले थे

युधिष्ठिर ! सम्भवतः नहीं !···बोलना चाहते थे—"पांचाल चलें तो कैसा रहे ?" पर बोले कुछ अलग। मन-ही-मन ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे—कुन्ती स्वयं ही पांचाल राज चलने का प्रस्ताव कर दें तो अच्छा हो !···"

कुन्ती ने कहा था—"पांचाल देश मनोरम है, वहां की समृद्धि और सुख को लेकर बहुत सुना है मैंने। राजा द्रुपद जितने उदार हैं, उनकी प्रजा भी उतनी ही उदार और धर्मपरायण है !···मैंने सुना है कि वहां भिक्षा भी सरलता से प्राप्त हो जाती है, इसलिए सोचती हूं कि हम सब पांचाल ही चलें तो···"

शब्द पूरे हों, इसके पूर्व ही वे सब बोल पड़े थे—"अवश्य माता !··· अवश्य !"

युधिष्ठिर व्यग्र होकर सभी भाइयों को देखते रह गए थे।

और फिर उन सभी ने राजा द्रुपद के देश चलने की तैयारियां प्रारंभ कर दी थीं···

□□

स्वयंवर के दिन तक के लिए वे सभी बहुत उत्सुक रहे थे···कोई किसी से कुछ कहता तो न था, किन्तु अपरोक्ष-भाव से उसकी हर चेष्टा व्यक्त करती थी कि वे सभी द्रौपदी के प्रति उत्सुकता की सीमा लांघकर बेचैनी की हद तक जा पहुंचे हैं।

फिर आया था बहुप्रतीक्षित दिन···

युधिष्ठिर सुबह के साथ ही मन में अजब-सी उथल-पुथल अनुभव करते रहे थे। भिक्षाटन के लिए निकलने के पूर्व उन्होंने अनुभव किया था कि मन-शरीर कुलांचे भरने लगा है···आंखें प्रतिपल भटकती हुई-सी। पंछी की तरह पांचाल के आकाश में कृष्णा की भव्य छवि को खोजने के लिए व्यग्र !···श्वासें उत्कंठा से भरी हुईं—हर बार ब्राह्मण द्वारा वर्णित वह गंध समेट लेने के लिए आतुर, जो पांचाली के शरीर से निकलती है···

ब्राह्मण बोला था—"···उस कुमारी के शरीर से नील-कमल की सुगन्ध आती है और दूर-दूर तक फैली रहती है···"

वह सुगंध···?

उसी सुगंध को आत्मा में गहरे तक छू लाने की साध लिए हुए वे सब स्वयंवर-स्थान पर पहुंचे थे···न जाने क्यों, मार्ग में कितनी ही बार युधिष्ठिर को अनुभव हुआ था, जैसे हर भाई एक-दूसरे से दृष्टि चुरा रहा है। एक-दूसरे से कुछ छीनता हुआ···या एक-दूसरे के पास कुछ है, जिसे खोजने का प्रयत्न करता हुआ !

स्वयंवर आरम्भ हुआ···द्रौपदी ने प्रवेश किया। वे सभी एक-दूसरे से अपरिचित होकर केवल पांचाली को निहारने में व्यस्त हो गए थे। युधिष्ठिर की दृष्टि ने नख-शिख तक द्रौपदी को देखा था···कितनी बार होंठों पर अजाने ही जीभ फिराई होगी, कितने गहरे श्वांस पिये-निगले होंगे—याद नहीं, पर उस क्षण उनके अपने भीतर एक साथ कई फव्वारे छूट पड़े थे···

कृष्णा को लेकर कौन-सी आंख थी, जिसमें प्राप्ति की ललक नहीं थी उस पल ? कौन-सा मन था जो भूकम्प की तरह उस अद्वितीय सौन्दर्य ने हचमचा नहीं डाला था ? द्रुपद-कन्या की प्राप्ति के अतिरिक्त कौन-सी इच्छा थी, जो किसी मन में शेष रह गई थी ?

तब युधिष्ठिर ही अलग क्यों होते ?···

□□

याद आता है—युधिष्ठिर के साथ भी वही औसत तरह ही घटा था, जिस तरह उस समय उपस्थित पचासों राजपुरुषों और दर्शकों के भीतर तक घटा !···वे मोहग्रस्त हुए थे ! वे सब कुछ भूलकर द्रौपदी की चाहना से जुड़े रह गए थे !···

केवल चाहना से नहीं—युधिष्ठिर—द्रौपदी के प्रति कामातुर हो उठे थे !···कामवश हो गये थे ![1]

और तुम उनसे अलग नहीं !···अति साधारण !···

उत्तर-शेष हो रहे हैं !···हां, सम्भवतः ! उत्तर के लिए उनके पास

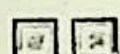
---

१. महाभारत : आदिपर्व : के १९०वें अध्याय में श्लोक क्रम १० से १५ के बीच यह वर्णन आया है—"कुन्ती के पुत्र पांचों पांडव भी और राजाओं की तरह द्रौपदी को देखकर कामवश हो गए !"

कुछ बचा ही नहीं है। विवेकी युधिष्ठिर उस पल कामातुर[1] होकर जैसे अपने से ही परे हो चुके थे···कह देना चाहते हैं—"नहीं !" पर कह पाना आसान है क्या ? अपने से असत्य बोल पाया है कोई ?···फिर युधिष्ठिर तो दूसरों से सत्यासत्य बोलने में ही सदा दुविधाग्रस्त रहे हैं ! अपने-आप से कैसे गलत बोल सकेंगे।

बोल पड़े हैं—"हां, उस पल यही हुआ था···मैं···मैं पांचाली के प्रति कामातुर हो उठा था !···"

लगता है—सहसा अपने भीतर का सत्य खोलकर हलके हो गए हैं !···



विचार-क्रम टूट गया है···बहुत-से लोग जो सामने हैं। सब युधिष्ठिर की ही तरह टूटे-बिखरे हुए !···उनके अपने। परिवारजन, बन्धु, बान्धव !

अर्जुन के पीछे-पीछेचलते हुए युधिष्ठिर कब, किस पल दो कदम तेज चलकर आगे हो लिए हैं—उन्हें स्वयं नहीं मालूम। बस, इतना मालूम है कि यांत्रिक ढंग से माता के सामने जा खड़े हुए हैं।

कुन्ती के एक ओर गान्धारी, धृतराष्ट्र, विदुर आदि···कुरु-कुल की विधवाओं का एक बड़ा समूह इधर-उधर बिखरा हुआ···

चिताएं अब लपटें छोड़कर केवल अंगारों का समूह बन गई हैं। वैसा ही समूह, जैसा इस पल चिता जलाने वालों का है। चिताओं के अंगारों से अधिक जलता हुआ, अधिक सुलगा हुआ और हर बीतते पल के साथ राख में बदलता हुआ···

अब न वायु वह सिहरन देती है, न प्रकृति सुखकारी लगती है और न ही जीवन का शेष या निःशेष हो जाना बहुत अर्थवान रह गया है !···

---

१. महाभारत : आदिपर्व : के ६४वें अध्याय मे श्लोक क्रम १ से ३५ के बीच द्रौपदी किसकी पत्नी हो—यह निर्णय करते हुए भाइयों का वार्तालाप आया है। इसीमें विवरण है— "पांचाली ने सबको नजर भरकर देखा। द्रौपदी ने सब भाइयों का चित्त चुरा लिया। सब भाइयों के हृदय में द्रौपदी का रूप बस गया। सबके हृदयों को कामदेव ने मथ डाला—"

युधिष्ठिर का मन रह-रहकर अपना ही स्थिति पर हंसने को हो आता है। करुण हंसी में। ऐसी ही हंसी, जो रुलाइयों से भीगी हो—"कितनी अबूझ स्थिति है यह ?···जब शेष होना चाहा है, तब निःषेषता खोज ली है··· और जब निःशेष हो जाने के लिए भाग्यचक्र ने मन-शरीर काटे थे, तब शेष होने की इच्छा व्यग्र रही !

"शत्रुदलन !···" कुन्ती बोली है। युधिष्ठिर ने सुना है। कुन्ती की आवाज तो कभी ऐसी, इतनी भारी, इतनी रूखी और इतनी अर्थहीनता से भरी महसूस नहीं की उन्होंने ?···तब आज ही ऐसी क्यों लग रही है ?

लगा था कि व्यर्थ ही उत्तर खोजेंगे। कौन ऐसा बचा है, जिसके भीतर स्वर-मन में ऐसा ही खोखलापन शेष न रह गया हो ? कौन है जो इस विजय से पराजय का बोध नहीं कर रहा ?

संभवतः कुन्ती थी !···

"पुत्र !" कुन्ती जैसे बोल नहीं रही है—बोलने के प्रयत्न में शब्द बटोरती हैं—शब्द भी बिखर गए हैं, मन-विचारों की तरह। कहा था—"रात्रि बहुत हुई, अब चलें ?"

एक गहरा श्वांस निकला। बोले—"हां, देवी !···

वे चल पड़े थे। सब थके हुए। अपने-आपको खींचते हुए से।

युधिष्ठिर सोचने लगे थे कि वह बोले नहीं थे, केवल गुंगुआए भर थे। कुछ इस तरह कि उसका जो चाहो, अर्थ निकाल लो !

यानि अर्थ भी नहीं बचे हैं उनके पास ?···

पर अर्थ तो तब होते हैं, जब शब्द हों, स्थिति हो, उनका कुछ आदि-अन्त हो ?

और इस समय तो किसी के पास कुछ रहा ही नहीं हैं। यदि कुछ शेष रहा है तो केवल विगत बचा है !···उसकी छीलती यादें बची हैं···घटनाओं की वह निरन्तरता शेष रही है, जिसने खंग की तरह आत्मा पर अकथित वार करने प्रारम्भ कर रखे हैं !···हर वार के साथ कांपता-कराहता मन !···

युधिष्ठिर का मन कांप-कांप उठता था···स्वयंवर में एक-एक कर जब वे महाबली लोग उठे तब लगता था कि 'द्रौपदी गई !···'

सबसे अधिक उस पल सहमे थे, जिस पल कर्ण उठा !···उनका अपना ही भाई ! उस समय तक जान सके होते, तब भी क्या उतने ही सहमते ?

सम्भवत: नहीं !···

असत्य !

जानते, तब भी द्रौपदी को लेकर उनके भीतर जो कुछ जाग उठा था, वह मन को कर्ण के प्रति खिन्नता से अवश्य ही भर देता !···

चलते-चलते मन हुआ था कि उस सबको याद न करें, किन्तु लगा कि याद किए बिना स्वयं ही सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे। अभी पल-भर पहले मन का यह आरोप स्वीकार कर कि वह द्रौपदी को पहली-पहली बार देखकर कामातुर ही हुए थे—कितनी शान्ति अनुभव की थी ?

वैसी ही शांति चाहिए उन्हें !···अत: सब याद करेंगे। तर्का-तर्क करते हुए अपने ही भीतर अपने ही आरोपों को स्वीकारेंगे या नकारेंगे।···

हां, कर्ण होता या और कोई भाई—युधिष्ठिर उसी तरह सहमते, मन घोंटते, अपने ही भीतर टूटते, जिस तरह उस क्षण भी टूटे थे—जब अर्जुन ने द्रौपदी जय कर ली थी !···

कितनी शक्ति और संयम सहेजकर स्वयं को दबोच लिया था उन्होंने। पर क्या दबोच पाए ?

"नहीं-नहीं, तुम कुछ भी नहीं दबोच पाए थे युधिष्ठिर ?···दबोच सके होते तो भला द्रौपदी का विभाजन उस तरह क्यों करते ? एक स्त्री और उसके पांच पति।

चीखना चाहते हैं—"नहीं !···तुम, तुम व्यर्थ आरोप लगा रहे हो मुझ पर ! उस क्षण तो मैंने केवल भाइयों की एकता पर विचार किया था।··· इसी में शुभ था हम सब का !···यही एक मार्ग शेष रह गया था हमारा संगठित रह पाने का !···भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—सभी भाई तो आसक्त थे पांचाली पर !···

किन्तु हर चेष्टा निश्चेष्ट ?···हर सोच व्यर्थ ! हर शब्द अर्थहीन और स्वर विद्रोही होता हुआ। केवल चुप···

और मन निरन्तर विगत की उस घटना के अगले-पिछले सच जोड़ता हुआ···स्वयंवर से द्रौपदी विजित करके लाए अर्जुन उस कुम्हार के घर पहुंचे थे, जहां सबने द्रुपद के देश में शरण ले रखी थी···

अर्जुन ने पुकारा था—"माता ?···माता ?···"

□□

"हम भिक्षा ले आए हैं, माता !···" भीम बोले थे।

द्रौपदी सबके पीछे थीं। आभूषणों से सजी-धजी, नील-कमल की गंध वातावरण में बिखेरती हुई···उनके साथ-साथ ब्राह्मणों की भीड़, जो इस सम्बन्ध से प्रसन्न हुए थे। द्वार खुले इसके पूर्व ही कुन्ती की भीतर से आवाज आई—"···तुम सब मिलकर उस भिक्षा को खा लो।···"

युधिष्ठिर ही नहीं, सब भाई स्तब्ध हो रहे। ब्राह्मण उन्हें बधाइयां दे-देकर अपने ठिकानों पर लौट रहे थे···

दो पल बाद कुन्ती ने द्वार खोला। पुत्रों के साथ ब्राह्मणों को देखकर स्तब्ध हो रही थीं, सहसा उसका मन विषाद् की बदलियों में नहा गया था। बोली थीं—"आह !···यह कैसा अनर्थ हुआ !···" फिर चुप रहीं।

"माता !···" भीम उत्साहित होकर आगे बढ़े, चरण छूकर कहा था—"भाई अर्जुन ने स्वयंवर में द्रुपद-कन्या को विजित किया है !··· आप प्रसन्न हों !"

द्रौपदी आगे बढ़ीं, कुन्ती के चरण छुएं।

इस सबके बीच युधिष्ठिर शांत खड़े हुए केवल माता के चेहरे को देखते रहे थे। क्या इसलिए कि जो कुछ वह बोल गई हैं—उसके बाद क्या निष्कर्ष देगी वह ? क्या द्रौपदी पांचों भाइयों में विभक्त हो जाएगी।

किन्तु मन को थामा था उन्होंने—यह सब क्या सोचने लगते हैं वह ? भला ऐसा भी कहीं होता है कि एक स्त्री पांच पति रखे ?···

कुन्ती ने द्रौपदी को आशीष दिया, स्नेह से गले लगाया और आदर-पूर्वक घर ले गईं। पीछे-पीछे पांचों भाई चले।

द्रौपदी और पांचों भाइयों को कक्ष में बिठाकर चिंतित और व्यग्र कुन्ती बाहर निकल आईं।

युधिष्ठिर को छोड़ कर वे चारों भाई यहां-वहां की बातें करने लगे थे

और युधिष्ठिर रह-रहकर सोच रहे थे—माता के शब्दों और बाद में उनकी चिंतित, व्यग्र मुद्रा पर। लग रहा था अजाने ही एक गुत्थी पैदा हो गई है और कुन्ती परेशान हो उठी हैं।

सहसा कुन्ती ने पुकारा था उन्हें—"युधिष्ठिर!…"

वह उठे, "आज्ञा माता?"

"यहां आओ।" कुन्ती का कठोर स्वर आया था।

वे भीतर पहुंचे।

कुन्ती का चेहरा बदली से भरा हुआ था। आंखें बेचैनी के साथ इधर-उधर भटकती-सीं। कहा था—"बड़ा अनर्थ हो गया, पुत्र!…अनजाने ही मैं भिक्षा बांट लेने की बात कर बैठी…और गांडीवधारी सुन्दरी याज्ञसेनी को स्वयंवर में जय कर लाए हैं। मुझे क्या मालूम था कि…

"आप शांत हों, माता!…निष्प्रयोजन भूल पाप नहीं होती, पाप है भूल के पीछे सोची गई योजनाबद्ध विचार!

कुन्ती की आंखों में चमक पैदा हुई। जब-जब नीति-अनीति, धर्माधर्म को लेकर दुविधा होती थी, युधिष्ठिर से ही तर्का-तर्क करके उन्हें शांति मिलती थी। लगा कि उस दृष्टि ने विश्वास खोज लिया है। उनका धर्मराज कहा और माना-जाने वाला पुत्र अवश्य ही उनके शब्दों का नीति और धर्म के साथ अर्थ दे सकेगा! बोली थीं—"मैं चाहती हूं, पुत्र कि कोई ऐसी राह निकले जिससे मेरा वचन भी झूठ न हो और द्रौपदी का पतिव्रत धर्म भी बना रहे!…"

युधिष्ठिर शांत थे…यह शांति उनकी असाधारण बौद्धिक शक्ति और क्षमता व्यक्त करने वाली थी। पर लग रहा था जेसे बहुत खोजकर भी कोई राह नहीं खोज पा रहे हैं…एक गहरा श्वांस लेकर कहा था—"कुछ-न-कुछ निष्कर्ष निकलेगा ही मां, आप आश्वस्त हों!"

कुन्ती कुछ कहें, इसके पूर्व ही वह वापस उसी कक्ष में मुड़ गए थे, जिसमें शेष चारों भाई द्रौपदी के साथ बैठे हुए थे।

बातें करते-करते वे सब चुप हुए। भाई का गम्भीर चेहरा देखने लगे।

युधिष्ठिर कुछ पलों तक सोच में डूबे रहे। रह-रहकर नजरें एक-एक भाई पर जातीं, और अन्त में द्रौपदी पर कुछ क्षण ठहरकर लौट पड़तीं।

कुन्ती उदासी की हालत में एक ओर खड़ी हुई थीं।

युधिष्ठिर बोले थे—"भाई अर्जुन!···राजकुमारी द्रौपदी को तुमने ही विजित किया है, अतः नैतिक दृष्टि से तुम ही उसके पति हुए हो··· किन्तु माता ने अनजाने ही जो कुछ कह दिया है—उसके कारण एक दुविधा खड़ी हो गई है···" कुछ और भी कहते, पर द्रौपदी से जब दृष्टि मिली तब असहज हो रहे···

अर्जुन के चेहरे पर तनिक भी दुविधा न थी। उठे और कहा—"आप ऐसा न कहें महाराज! माता के शब्दों से मैं तनिक भी विचलित नहीं हूं। उन शब्दों का सम्मान करने में ही हम सब का शुभ है, अतः मेरे विचार में द्रौपदी केवल मेरी ही नहीं, हम पांचों ही भाइयों की पत्नी हैं! हम पांचों ही उनसे पाणिग्रहण करेंगे!"

युधिष्ठिर चुप हो रहे थे।···केवल शेष सभी भाइयों को देखते हुए। द्रौपदी ने गर्दन झुका रखी थी—उनके भीतर क्या घट रहा था, देखना-जानना असम्भव।

सभी भाई सहसा महकते-खिलते हुए से लगे थे युधिष्ठिर को।

और वह स्वयं?···अपने ही भीतर से सहसा कोई पूछने लगा है। कह देना चाहते हैं नहीं! झूठ है यह! वे केवल उस उलझन का निष्कर्ष खोजने में व्यस्त थे उस समय। अतिरिक्त सोच से खाली!'

पर लगा था कि नहीं कह सकेंगे···

सच केवल यह है कि उस पल वह भी उसी तरह खिल गए थे, जिस तरह शेष चारों भाई अपने भीतर महक रहे थे। उन सबकी चमकती आंखें, चेहरों पर उभर आई दमदमाहट और रह-रहकर होठों का हौले-हौले कांपना···सभी कुछ तो व्यक्त कर रहा था कि अर्जुन ने स्वयं ही सारी समस्या हल कर दी।

अर्जुन पूछ रहे थे—"आदेश दें, भइया?···"

"हूं?···" युधिष्ठिर चौंके, अपने को संभाला। एक क्षण के लिए यह भी विचार किया था कि कहीं द्रौपदी के कारण गलत निर्णय से भाई बिखर न जाएं। यह बिखराव उस स्वप्न का अन्त बन जाएगा, जो न्याय और अधिकार के नाम पर कुरु राज्य को लेकर उन्होंने संजोया है।

सबकी आंखें उनपर ही ठहरी हुई थीं। निर्णय जो ठहर गया था युधिष्ठर के पास।

कुछ क्षण बाद कहा था उन्होंने—"संभवतः अर्जुन ने उचित ही विचार किया है माता!" वह कुन्ती की ओर मुड़े थे। एक चोर नजर से द्रौपदी को भी देख लिया था। अगले शब्द बोलते समय कुछ देर लगी थी उन्हें...? किसी विचार के कारण या उस नजर के कारण, जिससे द्रौपदी सभी भाइयों को बहुत भरी-भरी नजरों से देख रही थीं—?

हां, द्रौपदी के भीतर भी झांक लिया था उन्होंने। लगा था कि वे भी पांचों के प्रति बंटी-बंटी-सी हैं। देखकर शांति अनुभव हुई थी। कहा था—"तब ठीक है! माता की आज्ञानुसार, शुभलक्षणा द्रौपदी हम पांचों ही भाइयों की पत्नी होंगी।"[१]

वे सभी प्रसन्न हो गए थे...और स्वयं युधिष्ठिर! लगता था कि वारणावत जंगल से पांचाल तक हुए भटकाव और मार्ग कष्ट से सहसा राहत पा गए हैं! मन एकदम हलका हो गया था!

बहुत बड़ी समस्या हल कर दी! यदि द्रौपदी केवल अर्जुन की हो गई होती तो कितनी बड़ी राजनीतिक उलझन खड़ी हो जाती?...भाइयों में वैमनस्य हो गया होता! हो सकता है कि वे परस्पर युद्ध भी कर बैठते!

□□

१. अर्जुन द्वारा द्रौपदी को स्वयंवर में जीत लाने पर, वह पांचों भाइयों की पत्नी किस तरह बनीं—इसका स्पष्टीकरण महाभारत के (आदि पर्व) अध्याय १९४वें में श्लोक-क्रम १ से ६ के बीच इस तरह आया है कि द्रौपदी को साथ लिये हुए जब अर्जुन और भीम अपने शरण-स्थल पर पहुंचे तब देहरी से ही उन्होंने माता को सूचित किया कि वह भिक्षा ले आए हैं। भीतर से कुन्ती ने उन्हें बिना देखे ही उत्तर दे दिया कि—'पुत्रो, तुम सब मिलकर उस भिक्षा को खा लो।' फिर बाहर आकर द्रौपदी को देखते ही वह व्यग्र हो उठीं और बोलीं—'बड़े कष्ट की बात है कि मैंने बिना समझे बूझे यह क्या कर डाला!' यहीं उन्होंने युधिष्ठिर को अलग ले जाकर कहा है कि वह कोई ऐसा उपाय बताएं, जिससे उनका (कुन्ती का) वचन भी मिथ्या न हो और द्रौपदी को भी अधर्म होने के कारण खिन्न न होना पड़े!

क्या केवल यही सच है द्रौपदी के पांच पति होने का कारण ?···

युधिष्ठिर के अतिरिक्त और कौन बतला सकेगा ?···कम-से-कम वह अपने-आपको तो बतला ही सकते हैं ?···

अपने-अपने विश्राम स्थल पर पहुंच चुके थे सब। बहुत रात बीत चुकी···सुबह होने को है !

युधिष्ठिर आसन पर लेटे-लेटे निरंतर विगत से उलझे हैं···मन उधेड़ता हुआ—"क्या केवल यही सच है युधिष्ठिर कि तुमने भाइयों में एकता रहे—इस कारण द्रौपदी को पांचों भाइयों में बांटा ?"

नहीं नकार सकेंगे ! नकारते भी नहीं हैं। बुदबुदाकर अपने से ही कह उठे हैं—"किन्तु पांचाली केवल हम सबकी आसक्ति के कारण नहीं, माता की इच्छा के कारण भी सबकी पत्नी बनीं ! और फिर उस दिन पांचाली की अपनी दृष्टि में भी तो हम पांचों को लेकर वही कुछ भाव था जो हम सबके भीतर उन्हें लेकर आया था ?···यह तुम कैसे भूल रहे हो कि अर्जुन द्वारा द्रौपदी के पांच पति होने का प्रस्ताव आते ही पांचाली ने भी हम पांचों भाइयों को उतनी ही भरी-भरी आंखों से देखा था ?"···

"किन्तु पांचाली की उस दृष्टि का अर्थ आसक्त होना तो नहीं लगाया जा सकता युधिष्ठिर ?···"

"तब ?"

"तब हो सकता है कि वह दृष्टि केवल अर्जुन के प्रस्ताव पर उन पांच व्यक्तियों को अच्छी तरह देख लेने की रही हो ?···विशेषकर उस स्थिति में तो यह सहज था द्रौपदी के लिए ! जिसने जय किया था, वह उसे अपने अतिरिक्त शेष चार में और बांटने जा रहा था ?···कैसे हैं वे चार ?··· यही देखा हो पांचाली ने ?"

युधिष्ठिर निरुत्तर हो गए हैं !

मन निष्कर्ष देने लगा है—धर्मराज ! द्रौपदी यूं ही नहीं बंटी है तुम सबके बीच ?···वह उनकी सम्पूर्णता और तुम सबकी अपूर्णता है ! तुम सब मिलकर पूर्णत्व में एक होते हो, जबकि वह सम्पूर्ण में एक है।···द्रौपदी का विभाजन एक राजनीतिक विभाजन ही है युधिष्ठिर ! उसका मूल है वही क्रूर राजनीतिग्रस्त सामाजिकता जिसने तुम्हारे काल की अनेक घटनाओं को

घटाया है !"

"न-न···यह···यह सब विचित्र-सा लग रहा है। यह सच नहीं है··· सच···

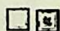
द्रौपदी स्वयंवर से राजनीति का क्या सम्बन्ध है भला ? युधिष्ठिर अचानक ही उबल आए मन के इस तर्क को उलीच डालना चाहते हैं ! वह एक सहज स्त्री-पुरुष विवाह सम्बन्ध की प्रक्रिया का अंश है···इसके अतिरिक्त ?···

नहीं ! अदृश्य के शक्तिशाली तर्क उन्हें अपने ही भीतर नहीं बोलने देते। अपने से ही नहीं बोलने देते। कहते हैं—"याद करो धर्मराज ! वह क्षण याद करो, जब ब्राह्मण ने तुम्हें एकचक्रानगरी में राजा द्रुपद द्वारा आयोजित स्वयंवर की सूचना दी थी, द्रौपदी का रूप-वर्णन किया था···

और उस पल ही कुन्ती को याद करो ! वह जो तुम सबकें भीतर द्रौपदी के सौन्दर्य वर्णन को सुनकर होने वाली प्रतिक्रिया देख ही नहीं रही थीं, आंक भी रही थीं···

हां···हां शायद···बुदबुदा पड़ना चाहते हैं युधिष्ठिर !

शायद नहीं, सब क्रमबद्ध है। सब सच। सबकी धरती में राजनीति ! यह भी तो हो सकता है कि यह उसी तरह घटा हो, जिस तरह घटना पूर्व-निश्चित था।



कुन्ती की आंखें याद हो आई है···जिस समय युधिष्ठिर मंत्र-मुग्ध होकर ब्राह्मण के मुंह से द्रौपदी की सौन्दर्य-प्रशंसा सुने जा रहे थे, तब देखा था उन्हें ! वे आंखें···?[1]

दूर-दूर तक सोचती हुई—एक-एक कर हर बेटे पर थमतीं फिर आगे

उपरोक्त समूचे अनुमानों के संदर्भ में 'महाभारत' में आए निम्न संदर्भों को क्रमबद्ध देखना आवश्यक है

१. "—कुन्ती ने समझ लिया कि उनके सब पुत्र अद्वितीय सुन्दरी कृष्णा के लिए उत्कंठित हो रहे हैं। सबका मन द्रौपदी में लगा हुआ है—" : आदिपर्व अध्याय-१७१, श्लोक-क्रम १ से ५ तक।

बढ़ती हुई...

और कुन्ती सारी रात जागती भी तो रही थीं उसी दिन ? युधिष्ठिर को याद हो आया है। फिर यह भी कैसे भूल सकेंगे कि अगले दिन ही उन्होंने एकचक्रनगरी से प्रस्थान का प्रस्ताव रखा था...प्रस्ताव के समय भी तो वही आंखें, उसी तरह ठहर-ठहर कर देखती रही थीं, हर बेटे को ? युधिष्ठिर पर भी ठहरी थीं वह !

याद आता है कुन्ती ने वार्ता के समय द्रोण और द्रुपद के कटु सम्बन्धों को लेकर द्रौपदी के विवाह को राजनीतिक महत्ता का बतलाया था यह भी याद है कि वही थीं जिन्होंने पांचाल राज चलने का सुझाव रखा था...[1] और फिर कैसे भूलेंगे कि वह कुन्ती ही थीं, जिन्होंने स्वयंवर वाले दिन देर रात पांडवों के लौटने पर बिना बाहर आए भीतर से ही कह दिया था—'तुम सब मिलकर उस भिक्षा को खालो।'[2]

क्या उस राज्य में रहते हुए भी कुन्ती इस जानकारी से अनभिज्ञ रही होंगी कि महाराज द्रुपद की कन्या का 'स्वयंवर है ?...क्या कुन्ती को मालूम न था कि उनके पराक्रमी पुत्र स्वयंवर में अवश्य ही पहुंचे होंगे ?...

तब क्या कुन्ती उस समय आश्वस्त न रही होंगी कि उनके शस्त्र-कुशल राजपुत्रों में से एक-न-एक अवश्य ही स्वयंवर में विजयी होकर लौटेगा ?...

और उन्होंने वचन दे दिया था अनजाने में कि 'मिल-बांटकर खा लो !'

---

१. तब उन्होंने युधिष्ठिर से कहा—'हे पुत्र ! जो तुम्हारी सलाह हो तो हम लोग पांचाल देश की शुभ यात्रा करें ?' आदिपर्व में वही अध्याय, श्लोक,क्रम ५ से १० के बीच :

२. "—मैं मिथ्या वचन से बहुत डरती हूं। मेरे वचन को झूठ न होने देने के लिए इसके सिवा और क्या उपाय है ? (कुन्ती और द्रुपद और व्यास का कथन जबकि एक स्त्री के बहुपति कैसे हों, इस पर द्रुपद ने शंका व्यक्त की आदि पर्व अध्याय ११९, श्लोक.क्रम १२ से १५ तक)

उपरोक्त वर्णन से यह प्रकट होता है कि कुन्ती ने अनजाने ही 'भिक्षा बांट लेने का' वचन नहीं दिया था, अपितु वह अपने बेटों की द्रौपदी पर आसक्ति को पहले से जान-समझ रही थीं और उनमें किसी प्रकार का वैमनस्य कृष्णा के कारण न हो जाये, अतः कुन्ती ने उचित समझा कि कृष्णा पांचों बेटों की पत्नी बन आए।

सचमुच 'अनजाने' ही दिया था वचन ?···

युधिष्ठिर टिप्पणी नहीं करेंगे। टिप्पणी करके इस दुविधा में नही उलझेंगे कि माता कुन्ती की मन:स्थिति क्या थी ?···या क्या था उनके भीतर ?···

उन्हें केवल अपना निर्णय करना है। इसीके अधिकारी हैं वह। इसके बावजूद मन कुन्ती से ही जुड़कर रह गया लग रहा है···कर्ण याद हो आए हैं—उन्हें तिलांजलि देनीं है भोर के साथ···

□□

अन्त्य संस्कार, मृत्युदान की अपेक्षा अधिक कष्टकारी होता है—पहली बार जाना···उस पल तो बच्चों की तरह बिलख पड़ने को मन हो आया था, जिस पल गंगा की धारा में उतरे···

दाएं-बाएं देखा—दूर-दूर तक परिवारजनों, विधवाओं और पुत्रहीन माताओं की एक पंक्ति खड़ी थी। सभी घुटनों-घुटनों गंगा में डूबे हुए··· उससे अधिक अपने ही भीतर सम्पूर्णता से डूब चुके लोग !

उस समय अधिक ध्यान नहीं दिया था, जिस समय निवास स्थान से भाइयोंआदि के साथ चल पड़े थे। सारी राह विदुर से बातें करते आए थे। क्या कीर्तिवान है, क्या नहीं ? किसकी अमरता नि:शेष होती है ? जीवन और संसार के विधि पहलू। उस समय यह देखा ही नहीं था कि वह अकेले नहीं हैं। उन्हीं की तरह विषादग्रस्त कुलजनों की एक बड़ी भीड़ आगे या पीछे चलती जा रही है।

गंगातट पर जिस समय तिलांजिल देने उतरे, उस समय भी उस ओर ध्यान नहीं गया था, किन्तु जैसे ही ब्राह्मणों ने श्लोकोच्चारण किए, पूर्वजों और कुल-गोत्र के स्मरण के साथ-साथ याद दिलाया कि तिलांजलि पाने वालों के नाम-गोत्र सम्बन्ध स्मरण करें, वैसे ही लगा था कि मन के भीतर अनेक लोग अंकुरा आए हैं। कर्ण, अभिमन्यु, प्रतिविंध्य, शल्य, दुर्योधन, दु:शासन···अनेक ! सब अपने-अपने सम्बन्धों के आधार पर युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए से···पितृ ?···भाई ?···सखा ?···बन्धु ?··· अनेक सम्बन्ध ! अनेकानेक सम्बोधन !

व्यग्र हो उठे !

इधर-उधर देखा था और फिर वैधव्य की आंधी में अस्त-व्यस्त हो चुकी कुलवधुओं की एक बड़ी भीड़ पर दृष्टि जा ठहरी थी···

श्लोकोच्चारण चल रहे थे···युधिष्ठिर ने आत्मबल जुटाए रखकर तिलांजलि धर्म पूरा किया था···फिर सब लोग तट पर यहां-वहां बिखर गए थे। आंखें निरुद्देश्य ही गंगा की सतह पर ठहरीं···

सूर्य किरणें इस जल पर क्रमशः इस तरह तिर रही थीं, जैसे कर्ण के सुनहरी बालों को सिहरा रही हों···याद हो आया है। जब-जब कर्ण को किसी कारण हंसते-बोलते देखते थे, तब-तब लगता था कि स्वर्णमंडित कुंडलों से कुछ ज्योतिधाराएं यहां-वहां शरीर पर उतर रही हैं···जल-धाराओं-सी···

बहुत अच्छे लगते थे कर्ण। मन में अजब-सा स्नेह-भाव पैदा होता था। तब कहां जानते थे कि यह स्नेह यूं ही नहीं है, रक्त का सहज संबंध है !

वही कर्ण स्मरण में।···

युधिष्ठिर ने ठहरी आंखों पर कई बार पलकें झपकीं। लगा कि फिर से अकेले होने लगे हैं।···

नहीं ! संभवतः अकेले नहीं हैं। वह हैं और हैं जलधाराओं से उभरते प्रतिसूर्य—कर्ण !

क्या उनकी अपनी तरह कर्ण भी सदा अंधेरे में ही रहे होंगे ? मन में प्रश्न उठ आया है। फिर यह प्रश्न आंतों को कसने लगता है—प्रश्न पर प्रश्न फेंकता हुआ। हर प्रश्न मन को नागपाश की तरह जकड़े हुए !

अकुलाकर यहां-वहां देखने लगे थे युधिष्ठिर। एक ओर कुन्ती किसी बात को लेकर कृष्ण से चर्चामग्न थीं। सहसा दृष्टि ठहर गई थी। किससे पूछें ? माता कुन्ती से ही ? या कृष्ण से ?

एक गहरा श्वांस लिया। किसीसे कुछ पूछने का अब शेष ही क्या रहा है ? विगत को अधिक उधेड़कर अपने ही भीतर अधिक पीड़ाग्नि में जलना होगा। गहरा श्वांस लेकर शांत बैठ रहे। दोनों घुटनों में सिर गड़ा लिया —अन्धकार अच्छा लगता है—आंखें मूंदकर यही महसूस हुआ था।

पर इस अन्धकार में इतनी शक्ति नहीं है कि विगत की कालिखभरी

घटनाओं का अस्तित्व मिटा सके। यह इस अन्धकार से भी कहीं अधिक गहरी और कटु है ! फिर से गरदन उठा ली···चौंके—"ऋषिवर, आप ! ···प्रणाम लें !" उठने को हुए।

"आयुष्मान् हो कुन्तीपुत्र !', ऋषि ने कहा। स्वर जितना शान्त था, दृष्टि उससे भी अधिक शान्त और गहरी। इधर-उधर देखा, फिर बोले—"तिलांजलि कर्म पूरा हो चुका संभवत: ?"

"हां, देव !" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया।

ऋषि एक ओर, जिधर पेड़ की छाया थी, बढ़ रहे थे। युधिष्ठिर श्रद्धापूर्वक उनके पीछे हो लिये। कब से नारद उनके और कुरु-जनों के बीच घूम रहे थे, ध्यान ही नहीं कर सके। मन क्षुब्ध हुआ।

ऋषि छाया में रुके तो युधिष्ठिर ने विनम्रतापूर्वक हथेलियों से ही उनके बैठने के लिए स्थान बुहार दिया। फिर हाथ जोड़कर एक ओर खड़े हो रहे—"विराजें, महात्मन् !"

"नहीं वत्स !" ऋषि ने उत्तर दिया—"इधर से आश्रम की ओर जा रहे थे हम···राह में तुम लोग दिखे, अत:···"

"कृपा की, देवात्मन् ! मैं उपकृत हुआ।" युधिष्ठिर ने श्रद्धा से बीच में ही कहा। स्वर भर्राया हुआ था। पिछली कई रातों विश्राम करना चाहकर भी विश्राम नहीं कर सके थे, अत: शरीर भी असहज-सा।

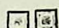
नारद उन्हें कुछ क्षण देखते रहे, फिर बोले—"मन स्वस्थ न हो, पांडुपुत्र ! तो शरीर भी स्वस्थ नहीं रहता, इसलिए मन को स्वस्थ-शान्त रहना आवश्यक है। तुम युद्ध के कारण हुए विनाश से बहुत चिन्तित और व्यग्र हो रहे हो राजपुरुष ! पर बीत चुके के प्रति सतर्क होना आवश्यक होता है, उसमें बीत जाना व्यर्थ है !"

युधिष्ठिर ने श्रद्धा से उन्हें देखा। पुतलियों पर अश्रु तिर आए, कहा, "देर्वाष ! यह शोकनाश किस तरह हो सकता है, कृपाकर बतलाएं ?"

नारदजी ने एक क्षण उन्हें टकटकी बांधे हुए देखा, फिर कुन्ती से वार्ता मग्न श्रीकृष्ण की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"जन्म और नाश का संपूर्ण रहस्य तो तुम्हारे साथ ही है धर्मराज ! तुम जैसे विवेकशील मनुष्य को उसे समझते देर नहीं लगेगी।"

युधिष्ठिर कुछ और कहें, इसके पूर्व ही नारद आगे बढ़ लिये—"नारायण ! नारायण ! फिर भेंट होगी, धर्मज्ञ ! मन सहज रखकर शान्तिपूर्वक संसार धर्म का पालन करो ! शुभाशीष !"

वे चल पड़े थे। युधिष्ठिर ठिठके हुए-से उन्हें देखते रह गए।...



कितने ही दिन बीते थे...पर लगता था कि हर दिन एक बोझ लेकर प्रारम्भ होता है, डूब जाता है।...नारद ने कहा था —"...जन्म और नाश सम्पूर्ण रहस्य तो तुम्हारे पास ही है धर्मराज ! तुम जैसे विवेकशील मनुष्य को उसे समझते देर नहीं लगेगी !"

कहां है रहस्य ?...इधर-उधर खोजते रहे हैं। किसके पास है यह रहस्य ? क्या भीष्म, विदुर, धृतराष्ट्र संजय...? इनमें से किसी के पास है ? किन्तु लगा था, नहीं है। सब खाली हैं...भरे होते हुए भी खाली खाली !

अपने ही भीतर चिन्तन-मनन् की प्रक्रिया चलाए रखी है। इस प्रक्रिया से कभी मुक्त नहीं रहे युधिष्ठिर ! मन कहता है—"तुम अधिक कष्ट, वेदना और पीड़ा केवल इस कारण भोगते हो धर्मराज ! क्योंकि तुम सोचते हो !"

हां ! लगता है मनुष्य का विचारशील होना ही उसका सबसे बड़ा दोष है ! दोष ही नहीं, एक तरह का दंड !

यह दण्ड जीवन भर भोगते रहे हैं युधिष्ठिर !...केवल अपने को लेकर ही नहीं, दूसरों को लेकर भी जितना सोचा है—यही दण्ड भोगा है !

महायुद्ध की विनाश-लीला को बीते कुछ ही दिन हुए हैं, पर लगता है कि युद्धारम्भ अब हो रहा है...युद्ध से कहीं अधिक तो युद्ध के बाद भोगता है मनुष्य ! वह जय-पराजय के परिणाम से कहीं ज्यादा दुःखदायी और कष्टकर !...

मन कहीं नहीं ठहर पाता। न द्रौपदी के पास होने पर सहज रह पाते हैं, न भाइयों के बीच। विदुर से धर्म-चर्चा करते हुए भी कोई निष्कर्ष नहीं निकलता। सब व्यर्थ-सा होने लगा है ?...

इस व्यर्थता-बोध से मुक्ति कैसे पाएं ?...इस छटपटाहट ने न भोर का अहसास होने दिया है, न सन्ध्या का ?...जीवन-कर्म यांत्रिक भाव से चलते

लगते हैं। सब कुछ यन्त्रवत् !...उनके बीच स्वयं भी संभवतः यन्त्र होते हुए !

परिजनों के क्रिया-कर्म से निवृत्त होते ही व्यर्थता-बोध ने इस कदर जकड़ लिया था कि भीड़ के बीच एकांत का अनुभव होने लगा । युधिष्ठिर के पास केवल युधिष्ठिर—और कोई नहीं। अकुलाकर, शांति की व्यग्र इच्छा ने आगत को देखने के बजाए विगत को ही कुरेदना प्रारम्भ कर दिया !...इतना कुरेदा कि हर घटना तहों और सतहों तक खुद आई...

और उसके साथ-साथ युधिष्ठिर अधिक व्यग्र और व्यथित होते गए। रोना स्वभाव में नहीं था, अतः मन-ही-मन बच्चों की तरह बिलख लिया करते...कितनी-कितनी घटनाओं की तहों तक इसी सतह नहीं बिलखे थे युधिष्ठिर !...कभी कृष्ण, कभी कुन्ती और कभी किसी अन्य सूत्र से उन्होंने वे सब घटनाएं ज्ञात कर ली थीं जो युद्ध-पूर्व कर्ण और कुन्ती के बीच घटीं...

"कर्ण को यह ज्ञात था युधिष्ठिर कि तुम पाँचो उनके भाई हो..." वासुदेव ने बतलाया तो भौंचक रह गए थे युधिष्ठिर—अविश्वास से भरकर उन्हें देखते हुए। सदा की तरह, हर अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में, एकभाव से संयमित-संयत रहने वाले कृष्ण के सांवले चेहरे पर मुसकान बिखरी हुई थी। पल-भर पहले जब कृष्ण के सामने कर्ण को स्मरण कर विगत को उधेड़ने लगे थे, तब कृष्ण ने कहा था..."वह अक्षयकीर्ति हुए !"

युधिष्ठिर ने उनसे प्रश्न किया था—"...उन्होंने मुझे बतलाया क्यों नहीं वासुदेव, कि वह मेरे अग्रज हैं ?...यदि ज्ञात हो गया होता तो मैं यह सारा राज-पाट और अधिकार उन्हें सौंपकर निश्चित होता। हम सभी भाई उनके चरणों में होते !...क्या प्रतापी कर्ण को अपने ही भाइयों की सेवा-निष्ठा पर किसी तरह का संशय था ?"

"नहीं, धर्मराज !...कुन्ती-पुत्र कर्ण केवल इसी कारण तुम्हें या किसी को भी यह नहीं बतलाना चाहते थे कि वह तुम्हारे बड़े भाई हैं..."

अधिक ही चकित हो गए थे युधिष्ठिर। बड़बड़ाकर प्रश्न किया था, "यह क्या कहते हैं वासुदेव ?...कर्ण इस कारण नहीं बत लाना चाहते थे कि सारा राज्य और अधिकार पा जाएंगे ?"

"हां, अजातशत्रु !..." श्रीकृष्ण की आखें यमुनाजल की तरह नीली हो गई थीं...गहरी और गम्भीर। कहा था—"कर्ण मनुष्यों में श्रेष्ठ थे भाई ! स्वयं उन्होंने ही मुझसे कहा था कि वह जानते हैं कि सत्य-निष्ठ युधिष्ठिर सत्य बात के ज्ञात होते ही उनके चरणों में आ गिरेंगे, राज्याधिकार और सम्पूर्ण शक्ति सौंपकर उनके अनुगामी हो जाएंगे...अतः वह उचित नहीं समझते कि ऐसा हो। क्योंकि कर्ण दुर्योधन के प्रति समर्पित भी थे, वचन-बद्ध भी कि आर्यावर्त का सम्पूर्ण राज्य-वैभव वह उन्हें समर्पित कर देंगे !..." एक पल थमकर कृष्ण बोले थे—"सत्य ज्ञात होने पर तुम अधिकार उन्हें सौंप देते और वचन-बद्ध होने के कारण प्रतिसूर्य कुरुराज्य दुर्योधन को सौंपते !...अतः उन्होंने यही उचित समझा कि रहस्य—रहस्य ही बना रहे !..."

युधिष्ठिर प्रश्नहीन होकर श्रीकृष्ण के चेहरे को देखते रह गए थे...लग रहा था कि उनके चेहरे के समीप ही कर्ण का सूर्यवत् चेहरा उभर आया है...प्रकाशमान और तेजपूर्ण !...

श्रीकृष्ण ने तब की सम्पूर्ण घटना सुना दी थी, जबकि उन्होंने युद्ध-पूर्व कर्ण से पांडव-पक्ष में आने के लिए कहा था...वह घटना भी, जब कुन्ती कर्ण से मिली थीं...

और युधिष्ठिर बिना कुछ पूछे, टोके, इस तरह सुनते रहे थे जैसे विस्मय के अद्भुत लोक में भटक रहे हों !...

कर्ण-कथा के पृष्ठों को समेटते-समेटते युधिष्ठिर निरन्तर व्यग्र होते गए हैं। यह व्यग्रता है या उनके अपने भीतर संजोया हुआ समुद्र—ज्ञात नहीं, पर इतना निश्चित है कि इस समुद्र ने रह-रहकर लहरों की तरह युधिष्ठिर की ही अन्तरात्मा से टकराना प्रारम्भ कर दिया है !...

विचार की कोई लहर उठती है और युधिष्ठिर अपने ही भीतर एक ताकतवर धक्का झेलकर जैसे-तैसे उबाल को संभाल पाते हैं ?...

किन्तु कितने दिनों तक थामे रह सकते, आत्म-तटों से टकराती, विगत-स्मृति की पीड़ाओं से भरी ये वेगवती लहरें ?

लगता है—बहुत दिनों तक सम्भव नहीं होगा।

आत्म-शक्ति से पूर्ण युधिष्ठिर के लिए भी सम्भव नहीं होगा !...

जीवन-चक्र में निरन्तर आते रहे अवरोधों, दुविधाओं और सांसारिक सामाजिक चोटों ने युधिष्ठिर की आत्म-शक्ति के तट बहुत कमजोर कर डाले हैं !···तब कर डाले हैं, जबकि युधिष्ठिर राज्यारोहण की राह चल पड़े हैं !···युद्ध का जय-मुकुट माथे पर रखे हुए !

कर्ण-कथा के रहस्य-पृष्ठों का उद्घाटन उन्हें अत्यधिक शक्ति-हीन कर गया है !···जानते हैं कि अजाने हुए अनर्थ और पाप का दोषी मनुष्य नहीं होता, पर यह जानते हुए भी कैसा आत्मपीड़न है, जो मन से छंट नहीं पाता ?···यह भी जानते हैं कि कर्ण के दोषी, उनका समाज, व्यवस्था, मूल्य और कुन्ती के अतिरिक्त स्वयं कर्ण ही हैं···युधिष्ठिर या अन्य पांडवों का उससे तनिक-सा भी सम्बन्ध नहीं—पर इस बोध को मन से कैसे हटाएं कि अजाने ही कर्ण के प्रति युधिष्ठिर स्वयं को दोषी अनुभव करते हैं। ऐसी स्थिति में थके-हारे, गल चुके आत्म-शक्ति के तट कितने दिनों तक आत्म-मंथन की वेगमयी लहरों को थामे रह पाएंगे ?

बहुत दिनों तक नहीं !

एक-न-एक दिन रोना ही होगा युधिष्ठिर को !···जीवन-मृत्यु और सत्य-असत्य की सैकड़ों तहों के जानकार युधिष्ठिर अति-सामान्य व्यक्ति की तरह बिलख-बिलखकर रोएंगे ···

कितनी-कितनी यादें तो हैं रुलाने के लिए···कर्ण के संदर्भ में ही कर्ण की एक स्मृति···वह स्मृति, जिसे सम्भवतः युधिष्ठिर शरीरांत के अन्तिम क्षण तक बिसरा नहीं सकेंगे···

अदृश्य दबाव की तरह उनके मन से सदा रिसती रहेगी यह स्मृति ! याद आती है और बाएं कन्धे पर हलका-सा दबाव पैदा हो जाता है···वही तो हाथ रखा था कर्ण ने ?···[१]

वज्र-पुरुष का हाथ, पर फूल-सा हलका !···



१. महाभात : कर्णपर्व : के ४२ वें अध्याय में श्लोक क्रम ५०-५२ पर वर्णित है—
"···महारथी कर्ण पांडव-पक्ष के सभी वीरों को परास्त करके शीघ्र ही महाराज युधिष्ठिर के पास पहुंच गए। उन्होंने अपना हाथ धर्मराज के कंधे पर रख दिया !"

संकुल-युद्ध का वेग आंधी की तरह समूचे रण-क्षेत्र में बिखरा हुआ था ! सूर्य की तेजस्वी किरणों के बीच जहां-तहां अग्नि के छोटे-बड़े अनेक पुंजों की तरह सेना के सिनों पर फूटते अग्निबाण !···विध्वंसकारी हाहाकार और उसीमें रथारूढ़ रथियों, अतिरथियों और महारथियों का घोर संग्राम !··· कोई शरीर न था जिसपर लहू की धाराएं न हों, कोई आंख न थी जो संसार की क्रूरता से नहाई न हो···कर्ण और युधिष्ठिर के बीच देर से एक-दूसरे पर घातक अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार चल रहे थे···तभी कर्ण के एक वेगमय प्रहार ने युधिष्ठिर के रथ को ध्वजाहीन कर दिया था ! युधिष्ठिर संभाल सकें, इसके पूर्व कर्ण के तूफानी हमले ने उनका तरकश, यहां तक कि रथ को भी टुकड़े-टुकड़े कर डाला···मुड़े और बुरी तरह चौंक गए—उस पल यही लगा था कि मृत्यु ने साक्षात् स्पर्श कर लिया है उन्हें। कन्धे पर कर्ण का हाथ आ पहुंचा था ! उनके कन्धे पर···इतने पास और इस तरह कि एक ही झटके में अजानबाहु कर्ण का हाथ उन्हें उछालकर अपने रथ पर डाल लेगा !···जीवित ही पकड़ लिया जाएगा पांडव-पक्ष के सिरमौर को !

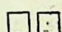
भय, आतंक और संकोच से भरकर युधिष्ठिर थर्रा गए थे। कर्ण की आग में जलती आंखें उस पल उन्हें असह्य हो उठी थीं। लगने लगा था कि उनके समूचे बदन में सलाखों की तरह कर्ण की दृष्टि-रश्मियां वह आग समोये दे रही हैं !···मन ने उसी पल चीखकर कहा था—"तुम समाप्त हुए युधिष्ठर !···पूर्व में किया गया तुम्हारा भयानुमान गलत नहीं था !··· तुम सचमुच ही कर्ण के हाथों हत हुए !···कुछ घड़ी और, फिर यह युद्ध समाप्त हो जाएगा !···पांडव-पक्ष नेतृत्वहीन ही रहेगा !···"[1]

---

१. महाभारत : कर्ण पर्व के ६६वें अध्याय में श्लोक. क्रम 11 से २० तक युधिष्ठिर ने अर्जुन से कर्ण को लेकर अपने मन पर छाया आतंक वर्णन करते हुए कहा है "···हे धनंजय ! कर्ण के डर से मैं तेरह वर्ष न तो रात को सोया और न ही दिन को घड़ी भर के लिए सुखी हुआ। मैं जागते सोते सदा कर्ण को ही स्मरण किया करता था। मुझे अब तक चारों ओर यह जगत् कर्णमय दिखाई दे रहा है। उसके भय से मैं जहां जाता था, वहीं मुझे अपने आगे कर्ण को ही दीख

बेसुध होने लगे थे युधिष्ठिर !

कर्ण द्वारा मिलने वाली मृत्यु के भय से या युद्ध में शरीर पर जगह-जगह हो चुके घावों के कारण !···[1]



संभवतः कर्ण के आतंक से ही बेसुध हो रहे थे वह ! झपकती पलकों के बीच उन्होंने देखा था कि पांडव-पक्ष में युधिष्ठिर के इस तरह कर्ण के हाथ पड़ जाने को देखकर एक खलबली फैल गई है···भयातुर सैनिक इधर-उधर भागने लगे हैं । कर्ण की सेना इन भागते हुए वीरों को घास की तरह रौंदे डाल रही है !···

पलकें पूरी तरह झपक जातीं पर तभी कर्ण ने हंसकर कहा था—"तुम्हारे क्षत्रिय धर्म को क्या हुआ युधिष्ठिर ?···कांप गया तुम्हारी रक्षा करने वाला धनंजय ?···तुम ऐसे निरीह भाव से कौरव-योद्धाओं को क्यों देख रहे हो कुंती-पुत्र ?···"

युधिष्ठिर ने सुना । लगा था कि वे शब्द भी अंगारों की तरह, कर्ण के मुंह से युधिष्ठिर के तन-मन पर बरस रहे हैं ! जगह-जगह से उन्हें झुलसाते और उनका तिरस्कार करते हुए व्यंगपूर्ण शब्द !···

उत्तर देना चाहकर भी ग्लानि और अपमान की पीड़ा के कारण बोल नहीं पा रहे थे···तभी एक हलका-सा धक्का देकर युधिष्ठिर के थके शरीर को जोर से हिला दिया था कर्ण ने, कहा था—"यह जगह तुम्हारी नहीं है युधिष्ठिर !···न ही यहां चौसर बिछी है जिसपर तुम खेलने चले आए ? मैं तुम्हारी हंसी करने के लिए भी शब्द नहीं ढूंढ़ पा रहा हूं···" सहसा

पड़ता था। समर से न हटने वाले कर्ण ने आज युद्ध में रथ और घोड़े नष्ट करके मुझे जीत लिया और दया करके किसी तरह जीता छोड़ दिया !"

१. कर्णपर्व के इसी अध्याय में श्लोक क्रम ११ से २० में युधिष्ठिर ने अपने मन पर छाया कर्ण द्वारा मृत्यु मिलने का भय इन शब्दों में स्वीकार किया है—'मैं वाध्रीणस पक्षी की तरह युद्ध में कर्ण के हाथों से अपनी मृत्यु जानता था—"

वाध्रीणस : यह पक्षी पितृकर्म में याज्ञिकों के हाथ मारा जाता है। उसके पंख सफेद रंग के होते हैं। सिर लाल होता है और गर्दन काली।

कर्ण की हंसी और व्यंग कटुता में बदल गए थे—"धिक्कार है तुम पर ! योद्धा न होते हुए भी तुम युद्ध में क्षत्रियों के सामने इस तरह निर्लज्ज-भाव से आ खड़े हुए हो ?···तुम पर धिक्कार है !···"

युधिष्ठिर व्यंग, कटुता और अपमान-भरे शब्दों से आहत होकर सजग हो गए थे। उत्तर के लिए शब्द न थे, अतः एक छटपटाहट मन में भरे हुए बेबसी से सूत-पुत्र की आंखों में देखे जा रहे थे···

कर्ण क्रोध, दर्प और घृणा से भरा हुआ लगातार कटु-वचन कहता रहा। उसने बहुत तरह युधिष्ठर को ही नहीं, सम्पूर्ण पांडव-पक्ष को धिक्कारा, फिर कहा था—"तुम स्वाध्याय और यज्ञादि करते रहे हो, ये ब्राह्मणों के काम हैं। मेरे विचार में तुम इसी कर्म को जानते-पहचानते हो, अतः तुम्हें युद्ध के मैदान में नहीं आना चाहिए !···[1]

युधिष्ठिर ने अपमान और तिरस्कार के अनेक खंग शरीर पर चलते महसूस किए थे। कर्ण का हर शब्द एक प्रहार !···हर प्रहार युधिष्ठिर के मन-शरीर को चिथड़े-चिथड़े करता हुआ !···

मन से एक प्रार्थना उभरी थी—"हे ईश्वर !···इस अपमान से तो कर्ण के हाथों मैं वीरगति पा जाता तो अच्छा था !···"

निराशा और कष्ट से सिर झूलने लगा था युधिष्ठिर का !

पर कर्ण निरन्तर आहत करने वाले खंगवत् शब्द-प्रहार करता हुआ—ऐसे जैसे इस पल शरीर-दान देकर मन से युधिष्ठिर का संहार किए डाल रहा हो !···बोला था—'जाओ अपने घर और अच्छा हो कि वहां जाओ जहां तुम्हारे सहारे और शक्ति अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं···! जाओ रणभूमि से !···कर्ण ने तुम्हें जीवित छोड़ा ! जीवित ही नहीं छोड़ा अपितु आश्वासन दिया कि तुम्हें युद्ध में कर्ण कभी नहीं मारेगा !···"

---

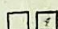
१. "—तुम ब्राह्मणोचित कर्म स्वाध्याय और यज्ञ आदि करते रहते हो और उसी को अच्छी तरह पहचानते हो, अतः मैं कहता हूं कि युद्ध और वीरों का सामना मत करो ! हे धर्मराज ! अपने घर को अथवा जहां पर श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, वहां जाओ। कर्ण तुमको समर में कभी नहीं मारेगा !" (कर्णपर्व के ४९वें अध्याय में कर्ण का युधिष्ठिर से संवाद। श्लोक क्रक ५२ से ५८ तक)

युधिष्ठिर रुआंसे होकर कर्ण को देखने लगे थे। इस तरह जैसे प्रार्थना कर रहे हों—"महावीर !···हत करो मुझे !···यह सब न कहकर मुझे मार डालो !···" किन्तु कर्ण ने अवसर नहीं दिया था, शल्य से बोला था—"चलो, मद्रराज !···रथ मोड़ लो, किसी और दिशा !"

और रथ मुड़ गया था कर्ण का ! अगले ही पल वीर कर्ण पांडव-सेना के एक और हिस्से पर टूट पड़ा था···

युधिष्ठिर लौट आए थे रणभूमि से !···पराजित बोध से पीड़ित ! आत्म-वेधन से तड़पते हुए !···प्राणों को बोझ की तरह अनुभव करते हुए !···

कर्ण ने जीवन-दान दिया था उन्हें !···



जीवन-दान दिया था या मृत्यु से भी अधिक कष्टदायी स्थिति में ला छोड़ा था ? कम-से-कम उस पल इसी तरह और यही सोचा था युधिष्ठिर ने ! कर्ण के प्रति अधिक ही क्रोधाग्नि से भर उठे थे वह !···

···पर आज लग रहा है कि उस दिन का क्रोध और पीड़ा सब मिलकर युधिष्ठिर से पूछने लगे हैं—"उस पल तुमने क्यों नहीं खोजे कर्ण के संवाद-अर्थ ?···तुम तो सदा ही संवाद के हर शब्द की तहों तक उतरने के अभ्यासी रहे हो युधिष्ठिर ?···उस पल क्यों भूल गए कि कर्ण जैसा शत्रु तुम्हें युद्ध में कभी न मारने का आश्वासन क्यों दे रहा था ?"

आंखें भर आई हैं। आत्म-तट का एक बड़ा शिलाखंड मन की लहरों ने तोड़ दिया है।···कर्ण तुम्हें समाप्त कर सकता था किन्तु उसने जीवन-दान दिया !

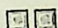
यह शिलाखंड गल रहा है···रेशे-रेशे !···फिर अनंत गहराइयों में डूबता भी चला जा रहा है ?

इसे पचा सकेंगे युधिष्ठिर ?···

असम्भव !···

कहां जानते थे कि एक दिन उसी कर्ण को लेकर रोने-बिलखने का मन होगा, जिसकी मृत्यु के लिए निरन्तर कामना करते रहे थे ? जिसे मार डालने के लिए उन्होंने स्वयं ही अर्जुन से केवल कहा नहीं था, अपितु उसे

उत्तेजित भी किया था !···अपने ही शब्द याद हो आते हैं। उस दिन जब युद्ध में कर्ण की मृत्यु को लेकर असत्य समाचार फैल गया था, तब कितने प्रसन्न हुए थे वह ?···



अर्जुन और कृष्ण रणभूमि से लौटे तो सहसा बांहों में भरने लगे थे उन्हें···स्वर सन्तोष और आनन्द की उपलब्धि से भरा हुआ था···युद्ध की थकान और घावों की पीड़ा के बावजूद चेहरा दीप्ति से दमदमाता हुआ—"आओ !···आओ, मेरे भाई ! मैं व्यग्रता से तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहा था !···यह जानकर मैं सुखी हुआ कि तुमने उस कपटी, धूर्त और वाचाल कर्ण का वध कर दिया है और स्वयं अछूते लौट आए हो···?"[1]

अर्जुन और कृष्ण दोनों ही सहमे हुए एक-दूसरे को देख रहे थे। युधिष्ठिर की ओर कभी-कभी उनके अवाक् चेहरे मुड़ते, आंखें विस्मय से देखतीं यह खोजने की कोशिश करती हुईं कि कहीं युधिष्ठिर मानसिक-रूप से तो नहीं गड़बड़ा गए !···

पर युधिष्ठिर उसी तरह हर्षोन्मत् बोले जा रहे थे···वह थरथराती हथेलियों से क्रमशः अर्जुन की बांहें, सीना और गर्दन टटोल रहे थे ···स्वर प्रसन्ता के समुद्र में डबडबाया हुआ—"कर्ण भयावह योद्धा था धनंजय !··· भला बताओ तो तुमने युद्ध में उस दुर्जन को किस तरह पराजय दी ?··· इस समय तो शायद वह रणक्षेत्र में मरा हुआ पड़ा होगा ! उसके लम्बे-चौड़े दीर्घ काय शरीर के चिथड़े हो चुके होंगे ? तुम तो सोच भी नहीं सकते अर्जुन कि मैं यह समाचार पाते ही कितना प्रसन्न हुआ हूं कि कर्ण हत हुआ !···"

"भइया···तुम···" अर्जुन ने कुछ बोलना चाहा था, पर युधिष्ठिर भावावेश में कुछ सुनने को तैयार न थे। वे गहरा श्वांस लेकर आश्वस्त-भाव से पलंग पर जा बैठे थे। उन्होंने बच्चों की तरह प्रसन्नता के साथ अपने

---

१. महाभारत : कर्णपर्व : के ६६वें अध्याय में श्लोक क्रम १ से ३० तक विभिन्न स्थानों पर कर्ण के मारे जाने पर युधिष्ठिर ने अपनी हार्दिक प्रसंनता व्यक्त की है। बाद में उन्हें सूचना मिलती है कि कर्ण हत नहीं हुए !

हाथ पटकते हुए कहा था—"···हां, मैं बहुत आनन्दित हुआ, यशोदा-नन्दन !···बहुत सुखी हुआ।"

"किन्तु धर्मराज !···" श्रीकृष्ण बोले थे—"राधापुत्र कर्ण अभी जीवित हैं···आपको समाचार असत्य मिला कि वह हत हो चुके है।"

युधिष्ठिर सहसा पुतले की तरह स्थिर रह गए थे। शब्दहीन, स्वर-हीन। यहां तक की उनकी आंखें थमी रह गई थीं कृष्ण पर—स्थिर !

कानों में केवल कुछ शब्द और उन शब्दों की प्रतिगूंज शेष रह गई थी—"कर्ण जीवित हैं !···कर्ण जीवित हैं !···कर्ण जीवित हैं !···"

सहसा तिलमिलाकर उन्होंने अर्जुन को अनेक तरह से धिक्कारना प्रारम्भ कर दिया था।

□□

कितना और क्या कुछ नहीं कह डाला था अर्जुन को ?···उनके गांडीव को धिक्कारा था !···उनकी शक्ति और वीरत्व को तरह-तरह लांछित कर दिया था ! यहां तक कि उनके पौरुष पर ही आशंका प्रकट करने लगे थे युधिष्ठिर !···

वही युधिष्ठिर जो पांचाली को सर्वस्व सहित चौसर के दांव पर हारने के बाद भी सन्तुलित रहे थे। वही युधिष्ठिर जो यक्ष के सामने अपने चारों भाइयों को मृतवत् पाकर भी संयम जुटाए रहे थे। वही युधिष्ठिर, जो वन में भटकते-भटकते अपने छालों और कष्टों को जल के घूंटों की तरह शान्त होकर पीते गए थे !···

वह युधिष्ठर—कर्ण के युद्ध में उस समय तक न मारे जाने पर संयम छोड़ बैठे थे ! इसीलिए ना कि जीवन-भर दुर्योधन, द्रोणाचार्य, यहां तक कि भीष्म से भी भयभीत नहीं हुए थे···युधिष्ठिर ! केवल कर्ण था, जो अपनी शक्ति, नीति और पौरुष के कारण उनके मन-शरीर पर मृत्यु-भय बना रहा ?···यह भय कब कर्ण के प्रति विरक्ति बन गई थी और कब इस विरक्ति ने अनजाने ही कर्ण की मृत्यु कामना को उनके भीतर जगा दिया था—उन्हें ही पता न लगा था !

किन्तु उस दिन लगा था कि उनके भीतर कर्ण को लेकर जो कुछ था, वह सहसा उबलकर अर्जुन के प्रति आक्रोश में व्यक्त हो उठा है !

···पर प्रतिसूर्य के डूबते ही उनकी अपनी माता कुन्ती ने जब उन्हें कर्ण-कथा सुनाई है और कुछ रही-सही तहें यहां-वहां के सूत्रों से युधिष्ठिर जुटा बैठे हैं, तब फिर कर्ण कष्ट का कारण बन गया है !···

□□

रह-रहकर बड़बड़ा उठते हैं—"प्रतिसूर्य !···मेरे अग्रज !···मुझे किस कारण दण्ड दे रहे हो तुम ?···क्या है मेरा दोष ?"

दिशाएं उत्तरहीन रहती हैं। कितनी-कितनी बार यही कुछ अपने भीतर बुदबुदाकर युधिष्ठिर ने कर्ण की स्मृति से याचना नहीं की है ? कितनी बार नहीं जानना चाहा है कि कर्ण किसलिए जीवन-भर उन्हें कष्ट देते रहे हैं ?···

पर किसीने उत्तरनहीं दिया। इसके विपरीत सन्नाटों ने अधिक गहराकर कर्ण स्मृति को मनमें उभारा है। दिशाओं ने अधिक गूंज के साथ रह-रहकर कर्ण याद दिलाए हैं !···

पिछले अनेक दिनों से कुन्ती, द्रौपदी और भाई-बन्धु कहते रहे हैं—"राजन् ! अब सिंहासनारूढ़ होकर धर्म-पूर्वक राज्य-संचालन करें आप !" पर युधिष्ठिर हर बार कतरा जाते हैं। चाहते नहीं हैं कि कतरायें, किन्तु मन विद्रोही हो उठता है। ऐसी रुचिहीनता तो संसार के प्रति उनमें कभी नहीं रही ?···क्या कारण है इसका ?···

अनेक कारण !···उन कारणों को याद करेंगे युधिष्ठिर !···राजभवन में भी संन्यासी मन लेकर रहते रहे युधिष्ठिर ने कर्तव्य से कभी अनदेखा नहीं किया ! न कर्म से घबराए हैं···

तब कौन-सा कारण है जो उन्हें इस महायुद्ध की विजय के बावजूद सत्ता, शक्ति और राजसुख से विरक्त किए दे रहा है ?···अपने ही भीतर अपने-आप से अनेक बार यही कुछ पूछा है युधिष्ठिर ने।

उत्तर नहीं मिलता !···उत्तर के बजाए मिलते हैं केवल प्रश्न···प्रश्नों का कभी न समाप्त होने वाला सिलसिला···

□□

पितामह से भेंट के लिए लगभग प्रतिदिन ही पहुंच जाया करते। उनसे विभिन्न विषयों पर बात करके सुख मिलता···बहुतेरे प्रश्नों का समाधान

कर लिया करते। हर भटकाव और बिखराव को समेटे रहते···आज भी वहीं जाना चाहते थे; किन्तु पता चला कि ऋषिगण आए हैं···

युधिष्ठिर ने आदेश दिया था सहदेव को—"उन्हें सम्मानपूर्वक लिवा लाओ, अनुज !···नगर-द्वार पर उनकी अगवानी करो। मैं तुरन्त उपस्थित होता हूं···"

सहदेव चले गए। समाचार लाए थे कि ऋषिगण युधिष्ठिर को विजयश्री प्राप्त होने पर आशीर्वचन कहने आए हैं। परम्परा थी। सहदेव तुरन्त बड़े भाई तक समाचार ले पहुंचे थे। बतलाया था—"इस समय तपस्वी ऋषि नगर द्वार की ओर आ रहे हैं···

उजड़े, मन से वीरान हो चुका राज-भवन युद्ध-पश्चात् पहली बार विद्वज्जनों और ब्राह्मणों के श्लोकों से गुंजरित होने जा रहा था। युधिष्ठिर ने 'अहोभाग्य' कहकर अगवानी की तैयारियां प्रारम्भ करवा दी थीं···कुरु-कुल की स्त्रियां भी तपस्वियों की अभ्यर्थना हेतु तैयार हुईं।

सहदेव ने नगर-द्वार पर ऋषियों की पूजा की फिर आदरपूर्वक राज-भवन की ओर ले चले···

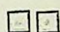
युधिष्ठिर बढ़ रहे थे उस कक्ष की ओर जहां उन्हें ऋषियों को प्रणाम कर उनकी पूजा करनी थी।

मुख्य सभा-भवन में ऋषियों और विद्वानों को ससम्मान बिठाने की व्यवस्था हुई। अर्जुन, नकुल, भीम तथा विदुर के पुत्र ने जल्दी-जल्दी सारी व्यवस्था की। विश्राम व्यवस्था कराई। स्वागत-पूजा की सम्पूर्ण औपचारिकताएं पूरी कर धर्मराज ने उन्हें आसन दिए। राज-पुरोहित क्षौम्य के साथ महर्षि वेदव्यास, नारद, देवल कण्व, सिद्ध, देवस्थान आदि अनेक ऋषि-मुनि और ब्राह्मण आये थे। युधिष्ठिर ने सोचा था—"विद्वज्जनों से अनेक जिज्ञासाएं करके मन को शान्त कर सकेंगे !"

और फिर जिज्ञासाओं का एक समूह तिर आया था मन में···यह निश्चित कर पाना कठिन हो रहा था कि किस प्रश्न को पहले पूछें ?··· किस विषय पर पहले चर्चा करें ?···

सन्ध्या समय तक भी धर्मराज निर्णय नहीं कर सके थे कि पहली जिज्ञासा क्या करेंगे ?···मन गहरे शोक में डूबा हुआ था। बहुत चेष्टा करते

थे कि नारद के बतलाए अनुसार अपने ही भीतर बैठे शोक के उपचार को खोज निकालें, किन्तु कठिन हो गया था यह···



ऋषियों ने भेंट का समय दिया। युधिष्ठिर यांत्रिक-ढंग से चल पड़े। उनके पीछे-पीछे, शेष भाई, विदुर, कुन्ती और द्रौपदी आदि। महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारी पहले ही उनकी सेवा में पहुंच चुके थे।

प्रणाम करके आसन ग्रहण किया, उस समय भी मन प्रश्न से खाली था···पहला प्रश्न कौन-सा हो ?···

ऋषियों ने तरह-तरह से आशीष दिया। नारद बोले थे—"कुन्ती-पुत्र !···महायुद्ध में तुम सौभाग्य से विजयी हुए हो, किन्तु देखता हूं तुम्हारे मुख पर विजय का आनन्द और उल्लास नहीं झलक रहा। क्या तुम्हें किसी तरह का शोक है ?"

युधिष्ठिर का चेहरा अधिक कुम्हला गया था···क्रमशः अपने भाइयों और माता की ओर देखा, फिर पल-भर के लिए दृष्टि अनजाने ही एक ओर आसनारूढ़ वृद्ध धृतराष्ट्र की थरथराती आंखों पर जा ठहरीं। लगा था कि युधिष्ठिर से किए गए प्रश्न को सुनकर वे व्यथित हो उठे हैं···

ऋषियों की दृष्टि क्रमशः उन सभी को देख रही थी। उनकी पुतलियां हर चेहरे पर घूमतीं, फिर युधिष्ठिर पर आ ठहरतीं···पुतलियों का यह टकराव जैसे रह-रहकर नारदजी के प्रश्नों को ही दोहराता हुआ···"तुम्हें कोई शोक तो नहीं है कुन्ती-पुत्र ?···"

युधिष्ठिर आकुल हो उठे थे। पलकों के भीतर उन्होंने आंसुओं की झिलमिलाहट का अहसास किया। स्वर को बहुत संयत रखने की चेष्टा करते हुए बोल पड़े थे—"भगवन् !···अपने ही पुत्रों-परिजनों को मारने के बाद प्राप्त हुआ यह राज्य मुझे दुःखकर लग रहा है···इस विजय को विजय के अर्थ में किसी भी क्षण मैं अनुभव नहीं कर पा रहा हूं···इन स्मरण-कष्टों ने मुझे जितना घेर रखा है, उससे कहीं अधिक कष्ट मुझे मेरे अपने ही परिजन दे रहे हैं ?···मेरी माता कुन्ती ने अग्रज को सारे जीवन छिपाये रखकर हमारे ही हाथों युद्ध में हत करवा दिया···इस विचार से मैं किसी भी घड़ी स्वयं को संयत नहीं रख पाता हूं। कितनी-कितनी बातें तो हैं, जिनके कारण

यह राज्यश्री पाकर भी मैं गहरे शोक, से ग्रस्त हो गया हूं !···मुझे जीवन ही व्यर्थ ज्ञान पड़ने लगा है !···

और भी बहुत कुछ कहे जाते युधिष्ठिर···लगता था कि नारद के प्रश्न ने उनके भीतर जन्म से एकत्र होती रही हर जिज्ञासा को कुरेद दिया है ! ···उनके भीतर भरे भराव को अचानक तोड़कर मुक्त कर डाला है···बहे जा रहे हैं···पर व्यासजी की गम्भीर वाणी ने थाम लिया था उन्हें। वे स्नेहपूर्वक बुदबुदाए थे—"शांत हो धर्मराज !···शांत हो !···"

युधिष्ठिर सहसा गर्दन झुकाकर चुप हो गए थे। अनजाने ही उनके हाथ ने पलकों के पास आकर उन आंसुओं को समेट लिया था···जो आंखों से विद्रोही होकर झर पड़े थे।

एक पल के लिए सभाभवन में सन्नाटा तिर आया था। जिस हिस्से में स्त्रियां बैठी थीं, वहां कुछ हलचल हुई थी। कुछ दबी सिसकियां उभरीं, हलके से खांसी के ठसके उठे···युधिष्ठिर ने ही नहीं, सभी ने उस ओर चौंककर देखा, फिर एक गहरा श्वांस लेकर युधिष्ठिर पुन: बोल पड़े—"···देवर्षि !···कर्ण-कथा जानकर मैं जितना शोकग्रस्त हुआ हूं, उतना तो प्रतिविंध्य, सुतसोम, अभिमन्यु आदि के युद्ध में मारे जाने पर भी नहीं हुआ !···जिस क्षण पितामह का शरीर भाई अर्जुन के बाणों से बिंध गया था, उस पल भी मुझे इतनी पीड़ा नहीं हुई थी, जितनी यह जानकर हुई कि प्रतापी कर्ण हमारे अपने ही भाई थे। फिर भाई भी ऐसे जिनके पराक्रम, वीरता, दान-धर्म और अन्य क्षमताओं का किसी से कोई मुकाबला ही न था !···" बोलते-बोलते युधिष्ठिर का गला भर्राने लगा था। आवाज स्पष्टत: घोषणा-सी कर रही थी कि वह रो पड़े हैं···कुछ पल यदि उन्हें न सम्हाला गया तो वे शब्दहीन होकर केवल सिसकियों के समुद्र भर बने रह जाएंगे।

नारद ने धीमे, पर स्नेहिल शब्द बोलकर उन्हें थामने की चेष्टा की थी—"राजन् ! तुम जैसे ज्ञानी और विवेकशील व्यक्ति का इस तरह पीड़ा ग्रस्त होकर अति सामान्य भाव से व्यथित होना, कुछ अच्छा नहीं लगता। तुम जीवन और मृत्यु के रहस्यों से भलीभांति परिचित हो, तब इस तरह शोकाकुल होना क्या उचित है ?

युधिष्ठिर का चेहरा जलता रहा था कि उन्हें अपने-आपको संयत किए रहने में कितना संघर्ष करना पड़ रहा है। उनकी आंखें एक आहत बालक की भांति कोमलता से भरी हुई थीं ओर होंठ रह-रहकर कांप रहे थे··· एक दो बार कुन्ती की ओर दृष्टि गई तब यही थरथराहट और कोमलता सहसा पत्थर की तरह जड़ होती लगी थी सभी को···स्वय लग रहा था कि अपने-आपमें यह विचित्र परिवर्तन काफी कुछ विस्मयकारी है, किन्तु अवश हो रहे थे।

ऋषि क्षौम्य ने पांडवाग्रज के क्रमशः उखड़ाव को समझा था। लग रहा था कि भावुक और कोमल हृदय युधिष्ठिर को युद्ध की विभीषिकाओं ने हचमचा डाला है। थामने का प्रयत्न करते हुए बोल पड़े थे—"कौन्तेय ! तुम्हारी विह्वलता समझ पा रहा हूं, किन्तु जीवन-मरण का नियंता मानव नहीं होता। वह ईश्वराधीन हैं। यह सब जो कुछ हुआ वह पूर्व-निश्चित था। भक्तिव्य सदा ही अपनी राह चलता है, अतः मनुष्य को केवल अपने कर्म पर विचार करना चाहिए···ईश्वरेच्छा उसकी विचारशक्ति का विषय नही···इस महायुद्ध में जिन-जिन पराक्रमियों वीरों ने जीवन का जिस-जिस तरह अन्त किया या पाया वह पूर्व निर्णीत था, इसलिए तुम अपने-आपको दोषी मत समझो !"

युधिष्ठिर ने सबकुछ सुना, पर कितना स्वीकार सके—यह तुरन्त चेहरे से व्यक्त नहीं हुआ। स्पष्टतः व्यथा-सागर इतना उमड़ आया था कि ज्ञान के कूल-किनारे उस तूफान की तुलना में शक्तिहीन हो उठे थे। सदा ही अपने सत्य से परे, सम्पूर्ण जीवन सत्य की सतहों पर सोचते रहे युधिष्ठिर को जब उनके अपने सत्य ने झकझोरा तब असहज हो उठे···पीड़ा कभी होंठों से बाहर नहीं आने दी थी उन्होंने। बहुत कुछ सहा था, सहते रहे थे···किन्तु भीतर एकत्र दर्द ने जब राह पा ली तो इस वेग से फूटा कि उसने दूर-दूर तक की सिसकियां उगलनी प्रारम्भ कर दीं। युधिष्ठिर बिना थमे तरह-तरह से बोलते गए थे···इतना बोले कि विद्वज्जन स्तब्ध भाव से बैठे रह गए। परस्पर दृष्टियां मिलाईं—इन दृष्टियों ने बहुत कुछ कहा सुना। युधिष्ठिर को बिना टोके उन्होंने बोलने दिया था।

बोलते-बोलते हांफ गए थे धर्मराज।

और उससे कहीं अधिक हांफने लगे थे भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के मन ! कहां सोचा था कि जिस भाई को लेकर सदा यही समझते आए थे कि युधिष्ठिर मानवीय पीड़ाओं से परे जीते हैं—अपने भीतर इस कदर पीड़ाएं बटोरे रहे होंगे। कितनी-कितनी तहों, कितने-कितने स्तरों पर सहेज रखी थीं पीड़ाएं ? शब्दों-धारणाओं के उन निरन्तर संवादों से सब बाहर आ गई थीं···

अर्जुन चकित होकर देख रहे थे। कुन्ती सिर झुकाए हुए—जैसे अपराध-बोध के वजन से भारी। भीम हैरान कि सह पाने की कैसी समुद्रशक्ति थी अग्रज युधिष्ठिर में। नकुल-सहदेक व्यग्र—कितना कुछ सहते रहे होंगे मानववादी युधिष्ठिर !

और ऋषिगण शांत। इस तरह जैसे युधिष्ठिर के खाली हो जाने की प्रतीक्षा कर रहे हो।

अन्त में युधिष्ठिर का भर्राया स्वर एक नहीं अनेक सवालों का ढेर ऋषियों के सामने रखने लगा था—"माता कुन्ती ने कर्ण के साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया, देवर्षि ? हमारे अपने हाथों हमारे परिजन क्यों मारे गए ? हम अपने ही पराक्रमी भाई के वध का माध्यम क्यों बंने ?"

व्यास की गरिमामयी बाणी गूंज उठी थी—"तुम्हारे मानवीय प्रश्न सहज हैं कुन्तीपुत्र! उनका समाधान हुए बिना भी तुम शांत नहीं हो सकोगे, इसलिए कुछेक सत्य समझ लो··जिस अद्वितीय वीर भाई की मृत्यु को लेकर तुम व्यथित हो रहे हो और उसके प्रति केवल माता को दोषी मान रहे हो, वह भी जान लो !"

युधिष्ठिर बोलना चाहते थे किन्तु तपस्वी वेदव्यास की ज्योतिर्मयी आंखों ने अनायास ही उन्हें मंत्रमुग्ध होकर चुप रहने पर विवश कर दिया था···व्यास कह रहे थे—"कुन्ती की ओर से कर्ण के प्रति अनजाने ही वह अपराध हुआ था···पुत्र ! जिस समय उन्होंने सूर्यावाहन कर कर्ण को प्राप्त किया उस समय वह बालिका थीं। सामाजिक ज्ञान और बुद्धि की उन सीमाओं से अनभिज्ञ थीं, जो गुण-दोष के कारण पर विचार करके उसका स्वरूप निश्चित कर सकें···इसी कारण उन्होंने कर्ण को जल में बहाया···"

"किन्तु देव !" युधिष्ठिर ने टोक दिया था ऋषि को, स्वभावतः तर्क की आदत ने गुत्थी का हर रेशा सुलझा लेना चाहा था—"···माता कुन्ती देवी की उस अपरिपक्व आयु के दोष को दोष न भी माना जाए, तब क्या उस समय उन्होंने दोष नहीं किया, जबकि दुर्योधन की शक्ति सम्बल बने हुए कर्ण के कारण ही हममें और हमारे कौरव भाइयों में वैमनस्य बढ़ता जा रहा था···उस समय माता कुन्ती ने हमें उस रहस्य से अवगत न कराकर क्या इस क्रूर युद्ध की रचना नहीं कर दी ?"

"तुम ठीक ही कह रहे हो अजातशत्रु !" व्यास ने शांत स्वर में उत्तर दियाथा—"पर तुम यह भूल रहे हो कि कुन्ती उस सबको रहस्य नहीं बनाये रखना चाहती थीं, अपितु उन्होंने युद्ध-पूर्व वीर कर्ण से प्रस्ताव भी किया था कि वह पांडवों का भाई है अत; उनके पक्ष में आ जाए···किन्तु दुर्दैव कर्ण के शीश पर सदा ही छाया रहा। इसी कारण उसने पांडव-पक्ष में आने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

"क्षमा करें पूज्य !" युधिष्ठिर का समाधान नहीं हुआ था। कम-से-कम कर्ण के मामले में तनिक भी समाधान नहीं हो सकता था···जितना जो कुछ ज्ञात हो चुका था, उसके बाद बहुविधि स्तरों पर उन्हें माता कुन्ती का दोष ही लग रहा था···कर्ण की असाधारण वीरता, पौरुष और पराक्रम को लेकर यह विचार भी मन से नहीं निकाल पा रहे थे कि कुन्ती की भूल के कारण ही उनका अपना अग्रज मारा गया। इस अग्रज की मृत्यु के वे कारण बने !

व्यास कहे गए थे—"मैंने तुमसे पूर्व ही कह दिया है युधिष्ठिर ! जो जीवधारी है, वह केवल अदृश्य की क्रीड़ा का माध्यम भर है। माध्यम किस तरह कार्य करता है, निर्धारित कार्य को किस तरह निबाहता है—यह अवश्य माध्यम की योग्यता हो सकती है, किन्तु परिणाम विश्वनियंता के हाथ होता है, अतः कर्ण के साथ जो कुछ हुआ या कि इस युद्ध में जो-जो वीर हत हुए, किसी की जय किसी की पराजय हुई, वह सब तुम्हारे विचार की परिधि में नहीं आता। तुम या जीवमात्र अपनी कार्य केपद्धति को लेकर दोष-अदोष पर विचार कर सकते हैं—सृष्टि के परिणाम पर नहीं !"

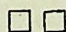
कुन्ती ने एक गहरा श्वांस लिया, इस तरह जैसे एक लम्बी यात्रा के

बाद थकान उतारने के जिए छायादार वृक्ष की शरण पा गई हों ! छल-छलाई आंखें उठाकर क्रमशः हर व्यक्ति-पात्र को देखा।

नारद बोलने लगे थे —"धर्मज्ञ ! कर्ण को लेकर तुम्हारा व्यथित होना सहज है। पर उसकी मृत्यु को लेकर स्वयं को दोषी मानना अकारण ! तुम्हें सम्भवत: नहीं मालूम कि तुम्हारे महावीर अग्रज को मार पाना तुममें से किसी के लिए कभी संभव न था !"

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और अन्य सभी ने चौंककर देवर्षि को देखा। वह व्यंग और रहस्य की मिली-जुली मुस्कान से मुस्करा रहे थे···फिर जैसे सभी की आंखों में प्रश्न पढ़कर उन्होंने बतलाया था—"धर्मराज ! कर्ण की मृत्यु का कारण अर्जुन नहीं है, उसका वह सम्पूर्ण जीवन है जिसमें उसने बहुतों के प्रति दोष किए बहुत से शाप जुटाए···परशुराम से छल करने के कारण वह उनका शापग्रस्त हुआ, कामधेनु की हत्या कर देने के कारण वह ब्राह्मणों के क्रोध का शिकार बना, इन्द्र को कवच कुन्डल दे डालने के कारण वह सुरक्षा हीन हुआ···"

युधिष्ठिर के माथे पर विस्मय रेखाएं उभरीं···लगा कि नारद कुछ ऐसा बता रहे हैं, जिसकी जानकारी उन्हें थी ही नहीं। शांत होकर सुनते गए—आंखें देवर्षि के चेहरे पर टिकी हुईं···



देवर्षि नारद ने बहुत कुछ बतलाया था···कर्ण किस-किस कारण शक्तिहीन और सुरक्षाहीन होकर अपनी ही मृत्यु के कारण समेटता चला गया था···उन्होंने उन अनेक घटनाओं का वर्णन कर डाला था, जब कर्ण बहुतों के प्रति दोष और रोष का कारण बना ! बोले थे—"तुम्हें ज्ञात नहीं है युधिष्ठिर, कर्ण की मृत्यु के जो बहुतेक कारण बने, उनमें से एक था ब्राह्मणश्रेष्ठ परशुराम से छल ! परशुराम के श्राप के कारण ही वह ब्रह्मास्त्र का ज्ञान पाकर भी उस समय उस ज्ञान से अछूता रह गया, जिस समय वह अस्त्र उसकी प्राण रक्षा कर सकता था !"

चकित हो गए थे युधिष्ठिर। प्रश्नपूर्व उन्होंने अपने भाइयों की तरफ देखा था समझा दिया था कि वे भी उन्हीं की तरह इस नयी जानकारी पर हैरान हो रहे हैं !

"हां, धर्मराज !" नारद ने बतलाया—"अर्जुन से युद्ध के समय परशुराम का वह शाप कर्ण के हत होने का बहुत बड़ा कारण बना !" फिर उन्होंने वह सम्पूर्ण घटना कह सुनाई थी···

□□

बहुत दिनों तक आचार्य द्रोण से ब्रह्मास्त्र सिखा देने की याचना करते रहने पर भी जब कर्ण गुरु को प्रसन्न करने में असफल रहे तो घोर निराशा से भर उठे थे ! अर्जुन के प्रति सदा ही स्पर्धा भाव मन में रहा था। जानते थे कि किसी-न-किसी दिन श्रेष्ठता का निर्णय युद्ध अर्जुन और उनके बीच ही होना है, अतः उत्तमोत्तम अस्त्र-विद्या प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते···

बहुविधि अस्त्र-शस्त्रों का अतिकुशलता के साथ संचालन सीख चुके थे, किन्तु ब्रह्मास्त्र ?

अर्जुन के लिए वह अनिवार्य। यही विचारकर कुछ समय के लिए आचार्य द्रोण के आश्रम से अवकाश लिया था। मन में विचार कौंधा था—"ब्रह्मास्त्र का ज्ञान परशुराम से प्राप्त करेंगे !

पर वहां एक उलझन थी। परशुराम युद्धाचार्य तो थे, किन्तु क्षत्रिय को बिना लम्बी-सेवा तपस्या के इतने महत् अस्त्र का संचालन-ज्ञान दे दें, यह असंभव था ! तिस पर परशुराम को लेकर एक बात और सर्वप्रसिद्ध थी ! ब्राह्मण योद्धा, क्षत्रियों से सदा ही अप्रसन्न रहे हैं, ऐसी स्थिति में कर्ण को ज्ञान किस तरह देंगे !

तिस पर कर्ण तो क्षत्रिय रक्त नहीं, शूद्र रक्त कहे जाते हैं।

एक मन हुआ था कि अपने जीवन का रहस्य बतलाकर प्रमाणित कर देंगे कि कर्ण सूर्य और कुन्ती के पुत्र हैं, पर उससे परशुराम संतुष्ट होंगे—इस बात का निश्चय करना असंभव ?

तब ? कर्ण को त्वरित ब्रह्मास्त्र पा जाने की इच्छा व्यग्र किए हुए थी। और तुरन्त परशुराम को शिष्यत्व प्रदान कर देने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता था ? बुद्धि ने कुटिलता की राह ले ली थी। कर्ण के मन में विचार आया था— ब्राह्मणश्रेष्ठ से छल करके भी तो ब्रह्मास्त्र का ज्ञान

पाया जा सकता है ? मन कुछ डरा था। परशुराम के क्रोधी स्वभाव की भी पूरी-पूरी जानकारी थी कर्ण को। ऐसी स्थिति में, यदि किसी भूल से रहस्य खुल जाता है, तब क्रोधी ब्राह्मण का रुख क्या होगा—सोच पाना कठिन है।

किन्तु मन में जनमे इस डर को युद्धास्त्र-प्राप्ति की इच्छा के मोह ने बांध लिया था। कर्ण द्रोणाचार्य के गुरुकुल से अवकाश पाते ही परशुराम के निवास की ओर चल पड़े थे।

जैसे-तैसे परशुराम के आश्रम की ओर बढ़े, वैसे-वैसे ब्रह्मास्त्र की प्राप्ति का मोह सघन होता गया। इतना सघन कि उसके अन्धेरे में कर्ण गुरु के प्रति छल के पाप का विचार भी बिसरा बैठा।

□□

वे परशुराम से आश्रम में थे।

महेन्द्र पर्वत।[1] प्रकृति का अद्‌भूत क्रीड़ास्थल। परशुराम का आश्रम यहीं था। गिने-चुने शिष्य तपस्वी ब्राह्मण की सेवा और गुरुकुल की व्यवस्था में रत। युद्धज्ञ ब्राह्मण से भेंट हुई। पहली दृष्टि में ही कर्ण ने समझ लिया था कि तेजस्वी ब्राह्मण से छल करना घातक हो सकता है, पर मन अस्त्र-विद्या के मोह से ग्रस्त। इस तरह जकड़ा हुआ है कि उस जकड़ को तोड़ पाना यदा-कदा उठ आते भय की शक्ति से परे !

परशुराम। गठा बदन, श्वेत दाढ़ी, सिर की जटाएं बंधी हुई। फरसा सदा पास रखते थे। यह उनका शृंगार। ब्राह्मणत्व का तेज माथे से कौंधता, क्षात्रियोचित वीरता दृष्टि से झांकती ! लाल-लाल आंखें जतलाती कि क्रोधी हैं। चेहरे का तनाव गहरी गंभीरता व्यक्त करता रहता।

प्रणाम करके कर्ण बिना परिचय दिए ही कुछ स्तब्ध और भयभीत दृष्टि से ऋषि की आंखों में देखता रह गया। भृगुवंशी तपस्वी विभिन्न स्थानों पर यात्रा करते रहते थे। कभी गंगा किनारे ऋषिकेश में होते, कभी

---

१. महेन्द्र पर्वत : कहा जाता है कि यह उड़ीसा से लेकर मदुरा तक विभिन्न शृंखलाओं में बिखरा हुआ है। परशुराम ने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की थी। जहां रहे वहीं आश्रम रहा।

यमुना के कूल-कगारों पर। जितने दिन जहां निवास करते, वहीं शिष्य आश्रम बना लेते। धर्म-ज्ञान चर्चा के अतिरिक्त अस्त्र-शिक्षा भी वहीं मिलती।

परशुराम ने तीखी नजरों से कर्ण को देखा था, जैसे भीतर तक कुरेद-कर जान रहे थे कि उनके दर्शन के लिए भी उपयुक्त पात्र है या नहीं ? फिर प्रश्न किया था—"तुम्हारा परिचय वत्स ? गोत्र निवास, जाति ?…"

एक बार सिहर उठे थे कर्ण !…इस तेजस्वी ऋषि के सामने असत्य बोल सकेंगे ? मन ने सिहराया था, किन्तु अपने भीतर की बलवती मोहेच्छा से स्वयं को सम्भाला। कहा—"दास भृगुवंशी है पूज्य !…"

"जानकर आनन्द हुआ।" परशुराम बोले—"गौत्र ?"

कर्ण ने भृगुवंशी ब्राह्मणों में से एक गोत्र का नाम बताया।

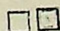
"हूं…" एक पल के लिए शांत रहे युद्धाचार्य, फिर कहा था—"क्या चाहते हो तुम ?"

"आपका आशीष चाहता हूं भगवन् ?…" कर्ण चरणों की ओर देखते हुए इस तरह बोलने लगे थे, जैसे सबकुछ यात्रा के बीच रटते आए हों… असत्य के बाद असत्य की सीढ़ियां चढ़ते हुए ब्राह्मण ऋषि का कृपाशीष पाना था उन्हें…फिर ब्रह्मास्त्र प्राप्त करना था…" आपके चरणों में रह-कर युद्ध-शिक्षा पाना चाहता हूं ब्रह्मन् !…मुझे शिष्यत्व प्रदान करें।"

स्वर इतना मीठा था की परशुराम को दृढ़ता दरकी। चेहरे पर अजब-सा बालकपन बिखराये हुए कर्ण उनके चरणों में झुक गए थे—"मुझे शिष्यत्व प्रदान करें महात्मन् !

एक पल के लिए युद्धज ब्राह्मण ने विचार किया, पलकें मूंदी, फिर सर-लता के साथ कह दिया—"आयुष्मान हो पुत्र !…यह आश्रम तुम्हारा हुआ !"

कर्ण के भीतर हजारों फूलों की महक बिखर गई थी…मन कलियों की तरह खिला हुआ। भूल ही गए थे कि एक दिन आंधी आएगी और ब्राह्मण वीर का क्रोध सारी कलियां मुरझा डालेगा !



कर्ण ने परशुराम की सेवा में दिन-रात एक कर दिया था…ऋषि की पलक उठने का अर्थ समझ लिया करते। परशुराम प्रसन्न थे। सेवा और

लगन के भाव ने जल्दी ही कर्ण को अन्य शिष्यों की तुलना में गुरु के अधिक पास पहुंचा दिया था !

फिर वह पल आ पहुंचा था, जिसकी प्रतीक्षा में व्यग्र कर्ण ने यह सब किया था। गुरु से छल ही नहीं किया था, छलों के एक सिलसिले में उन्हें जकड़ लिया था। परशुराम स्वयं ही बोले थे एक दिन—"पुत्र !···मैं तुम्हारी निष्ठा और सेवा से प्रसन्न हूं, अतः तुम्हें ब्रह्मास्त्र का ज्ञान दूंगा ! ···यह ज्ञान केवल तपस्वी क्षत्रियों और ज्ञानी ब्राह्मणों को ही प्राप्त होता है !···"

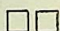
कर्ण ने सिर झुकाकर गुरु के चरणों की माटी माथे लगा ली थी—"जैसी आपकी आज्ञा, गुरुवर !"

और कर्ण को एक लम्बे अभ्यास के बाद उस अलौकिक अस्त्र का ज्ञान मिल गया था। कर्ण का वांछित पूरा हुआ। मन-ही-मन प्रसन्न थे राधेय ! ···अर्जुन से अधिक ही अनुभव किया था स्वयं को !

परशुराम के आश्रम में एक अतिरिक्त लाभ और पा गए थे कर्ण ! उन्हें ब्रह्मास्त्र के अतिरिक्त भी अनेक विचित्र अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान हुआ। धनुर्विद्या में भी अद्‌भुत श्रेष्ठता और परिपक्वता मिल गई थी कर्ण को।

कर्ण हृदय से वीर ब्राह्मण के प्रति आभारी थे। एक दिन परशुराम बोले थे—"पुत्र !" तुम अब हर तरह शस्त्रास्त्र के ज्ञाता हो चुके हो ? तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई···पूर्णिमा के दिन तुम्हें आश्रम से विदा करूंगा मैं !"

कर्ण के भीतर की कलियां अब फूल बनने को थीं···



अगले दिन पूर्णिमा थी।

जिस दिन कर्ण के लिए विदाई की घोषणा की थी परशुराम ने, उस दिन उन्होंने उपवास किया था। शरीर में आलस और थकान अनुभव कर रहे थे। कर्ण पास ही बैठा हुआ था। थके हुए गुरु पर निद्रा हावी हो रही थी। आसन की चिन्ता किये बिना विश्राम हेतु वे लेट रहे। कर्ण की जंघा को सिरहाने की तरह उपयोग कर लिया।

कर्ण बिना हिले-डुले बैठे रहे—शांत और दृढ़। मन इस प्रसन्नता से भरा हुआ था कि कल के बाद वह ब्रह्मास्त्र के ज्ञाता वीरों में से एक माने

जाएंगे !···युद्ध में सामना करनेवाले योद्धा सदा सावधान रहा करेंगे कि अंगराज कर्ण अलौकिक अस्त्र के ज्ञाता हैं !

सोच ही रहे थे कि हौले से पीड़ा की एक लकीर माथे तक खिंची चली गई। घबराकर कर्ण ने अपनी जांघ की ओर देखा। जिस जगह परशुराम का सिर रखा हुआ था, उससे कुछ नीचे की ओर अलर्क[1] (एक जंगली कीड़ा) मांस में चिपककर रह गया था। पीड़ा की पहली लकीर के बाद अब निरंतर लकीरें माथ में कौंधने लगी थीं···और कीड़ा था कि जांघ में गहरे और गहरे उतरता हुआ···

तिलमिलाहट के कारण जांघ हिला लेनी चाही थीं, पर वह सम्भव नहीं ! गुरु की निद्रा तोड़ना नहीं चाहते थे। कर्ण ने जबड़े कसे, टीस को पीते गये और कीड़ा मांस में गहरे और गहरे उतरता गया···उसके साथ ही रक्त की एक लकीर जांघ से बहकर नीचे तक बह आई···फिर यह लकीर सोये हुए परशुराम के बदन की ओर बढ़ चली···

कीड़े के निरंतर काटने और मांस में समाते जाने के कारण कर्ण गहरी पीड़ा अनुभव कर रहे थे, किन्तु अपनी कठोरता और दृढ़ता से उस पीड़ा को सहते रहे। निश्चय कर लिया था कि उस समय तक सहते रहेंगे, जब तक कि गुरु की नींद स्वयं ही नहीं खुल जाती···उनका चेहरा तनाव और कष्ट के कारण खिंच उठा था !

पर नींद खुली रक्त की लकीर के स्पर्श से !···परशुराम हड़बड़ाकर जाग गए। चौंककर अपने ही शरीर को देखते रह गये थे ब्राह्मण ऋषि। उनके बदन का तमाम हिस्सा लहू से भीगा हुआ था···पर पीड़ा कहीं नहीं ?

तब यह लहू किसका है ?

कर्ण की ओर ध्यान गया···कर्ण अब कीड़े को जांघ से निकाल रहे थे !

परशुराम को समझते देर नहीं लगी थी कि किसका रक्त है और किस कारण बहा है ? एक ओर शिष्य की निष्ठा ने प्रसन्न किया था तो दूसरी

---

१. अलर्क : बहुत कुछ पटार, कानखजूरा आदि कीड़ों की जाति। अलर्क को लेकर कहा गया है कि उसके आठ पैर, शरीर पर सुई जैसे रोंगटे और तीखी दाढ़ होती हैं।

ओर इस विचार ने कि उपवास के दिन पर वह रक्त से नहा गये—खिन्न भी कर डाला ! आंखें कर्ण पर टिकी हुई थीं जो अब जांघ से कीड़ा निकाल कर परम सन्तुष्टि के भाव से गुरु की ओर देख रहे थे। उस स्थिति में भी कर्ण को मुसकराते पाकर कुछ चकित हो उठे परशुराम। जन्मशः ब्राह्मण है उनका यह शिष्य, किन्तु इतना सहनशील ! पूछा था—"यह सब कैसे हुआ वत्स, निस्संकोच बतलाओ ?"

दृष्टि कर्ण की आंखों में खुबादी थी। इस दृष्टि से तेज बरसता हुआ। इस तेज के सामने असत्य भाषण करना असम्भव !

कर्ण ने आंख देखी—बुरी तरह सहम गये !···मन घबराहट से भर उठा। यह दृष्टि कुछ जानना चाहती है ! क्या ? कह पाना कठिन ! तभी परशुराम का कौंधता प्रश्न फरसे की तरह ही कारदार वार करता बरस पड़ा था उन पर—"यह सब कैसे हुआ—मैं जानना चाहता हूं ?···"

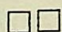
कर्ण ने कांपते स्वर में सब कुछ कह सुनाया।

परशुराम सुनते गये। शांत रहे।···सोचते हुए।

कर्ण के सब कुछ कह चुकने पर परशुराम ने कहा था—"तू मूर्ख है रे !···क्या तू यह नहीं जानता कि किसी ब्राह्मण के लिए यह सब सह पाना असम्भव है ?···"

कर्ण एकदम चुप !···आतंकित ! चेहरा पीला पड़ने लगा था। ब्रह्मर्षि क्रोधवश न जाने क्या कह बैठें या कर बैठें ?

कर्ण ने सब कुछ सच-सच कह दिया था।···परशुराम सुनते गये थे। हर शब्द के साथ चेहरा तमतमाया हुआ था, फिर आंखें रक्त-सा उगलने लगी थीं···



"तू ने मुझसे छल किया दुष्ट !" परशुराम का स्वर इतना धारदार था कि सहते-सुनते समय कर्ण क्षमा याचना भी नहीं कर सकेंगे। भयभीत केवल देखते ही रह गये थे।

परशुराम ने श्राप दे दिया था—"नीच ?···तूने मुझे नहीं छला, अपने-आपको छल लिया ! स्मरण रख, जिस अलौकिक अस्त्र का ज्ञान तूने मुझसे विश्वासघात करके प्राप्त किया है, उसे तू ठीक समय पर भूल जायेगा !···

प्रयत्न करके भी तुझे वह याद नहीं आएगा !···यह ठीक है कि रणभूमि में तुझसे अधिक वीरतापूर्वक पराक्रम दिखानेवाला कोई अन्य वीर नहीं होगा; पर गुरु से छल के कारण तू इस अस्त्र का उपयोग कभी न कर सकेगा !···"

□□

"···और इस तरह बहुत बार क्षमा याचना करने पर भी कर्ण को क्रोधी युद्धाचार्य ने क्षमा नहीं किया था।···" नारद बोले थे—"वही हुआ, अर्जुन से युद्ध के समय कर्ण उस अलौकिक अस्त्र का उपयोग करना भूल गया !···"

वे स्तब्ध बैठे थे···नारद ने कर्ण के जीवन की अनेक घटनाएं कह सुनाई थीं, जिनसे उनका व्यक्तिगत दोष और भलें प्रमाणित हो रही थीं। अन्त में कहा था—"धर्मराज ! इस तरह कर्ण के मारे जाने के अनेक कारण हैं !···तुम अपने-आपको दोषी व्यर्थ ही मान रहे हो !"

"किन्तु आचार्य कर्ण के प्रति हमसे भी तो कम दोष नहीं हुए हैं···?" सहसा युधिष्ठिर बोल पड़े थे। मन उस समय भी इस दोष से स्वयं को मुक्त नहीं कर पा रहा था कि उनके अपने ही नेतृत्व में शत्रुत्व भाव से कर्ण हत हुए।···यह भी निश्चित नहीं कर पा रहे थे कि यह दोष भाव है अथवा कर्ण के निधन-बाद उनके प्रति उमड़ आया भ्रातृमोह !···

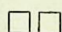
नारद ने कहा था—"यह सृष्टि-व्यवस्था इसी तरह चलती है युधिष्ठिर !···विधाता ने जीवनमात्र को एक-दूसरे के प्रति गुण-दोषों से जोड़ रखा है। इन गुण-दोषों के कारण मनुष्य परस्पर एक-दूसरे के प्रति उपकार-अपकार करते हैं, कोई किसी का रक्षक बनता है, और कोई किसी का संहारक ?···कर्ण ने जिनके प्रति दोष किये, उनके शापों को तुम्हारे पक्ष के माध्यम से पूर्ण होना था, अतः कर्ण मारे गये ?···"

युधिष्ठिर ने गहरा श्वांस लिया। सिर झुका लिया।

नारद कहे जा रहे थे—"कर्ण हत हुए···इसके कारण कर्ण स्वयं भी कम नहीं रहे। यदि वह कुन्ती से अर्जुन के अतिरिक्त अपने किसी भाई के वध की प्रतिज्ञा न कर लेते, उनके पास भी श्रीकृष्ण जैसे नीतिज्ञ का परामर्श धन होता, इन्द्र उनके दानगुण के बहाने उनसे छल न करते, तब तुम्हारा तेजस्वी और सूर्यवत् भाई युद्ध में अर्जुन के हाथों कभी न मारा जाता !···

यह सब मैं इस कारण बतला रहा हूं कुन्तीपुत्र कि तुम कर्ण की मृत्यु का कारण मात्र अपने-आपको मान रहे हो !···विचार करोगे तो तुम्हें लगेगा कि वह अलौकिक पराक्रमी अपने ही दुर्गुणों, दोषों और तुमसे इतर लोगों के छल के कारण युद्ध में हत हुआ ?"[१]

वे सब चुप हो गये थे।



किन्तु युधिष्ठिर ?···क्या चुप हो सके हैं ? लगता है नहीं। ऋषि जा चुके थे। विजयोल्लास में डूबे पांडवपक्ष के लोग उत्सव मनाने लगे थे। राज्य की ओर से ब्राह्मणों को दान-धर्म किया जाने लगा था···धीमे-धीमे शोक की घटनाओं को कुछ समय मन पर बरसाये रहने के बाद रौशनी भरा आकाश बिछने लगा था···पर युधिष्ठिर अशांत ! उसी तरह असहज, उसी तरह अपने ही आत्मद्वंद्व में लीन ! अपनी ही शल्य-क्रिया करते हुए।

इस शल्यक्रिया से मुक्ति असम्भव !···एक ओर मन को चीरकर घाव ठीक कर लेना चाहते हैं तो लगता है कि दूसरी ओर फोड़ा कसकने लगा है···तरह-तरह के फोड़े हैं, तरह-तरह की टीसें !

अशांत, असहज-से बैठे हुए घंटों सोचते रहते हैं। विगत, विगत और केवल विगत ! कितना अच्छा होता कि सामान्य मानव होते युधिष्ठिर ! बुद्धि-विवेक और ज्ञान की ऐसी चेतना से परे···अति-सामान्य व्यक्ति ! किसी सैनिक की तरह अपना धर्म निबाहते हुए युद्धक्षेत्र में मारे जाते !···

पर वैसा नहीं हुआ ! राजपुरुष बने ! राजपुरुष होते हुए भी ऋषि के संस्कारों से जुड़कर सत्य के खोजी बन गये !

सारा कष्ट केवल इसीलिए !···

व्यग्र होकर किसी बार प्रकोष्ठ में टहलने लगते हैं, किसी बार एकांत में पड़े टकटकी बांधे हुए, कभी धरती की ओर देखते रहते हैं, कभी आकाश की दिशा में ! देखते हुए भी सब कुछ अनदेखा-सा रहता है !

---

१. महाभारत : शांतिपर्व : के ५वें अध्याय में श्लोक-क्रम १० से २५ के बीच युधिष्ठिर से नारद का कथन।

द्रौपदी और सभी भाइयों ने व्यग्र मनःस्थिति देखी तो पूछ लिया था—"कारण ?" युधिष्ठिर का मन हुआ था कि गुस्सा होकर प्रश्न पर प्रश्न थोप दें। पूछें—"इतने कारण जानते-बूझते हुए भी तुम लोग कारण जानना चाहते हो ?" पर नहीं पूछा। केवल इतना ही कहा था—"अब इस राज्य से जुड़े रहने की कोई इच्छा मन में शेष नहीं है द्रुपदपुत्री !··· लगता है कि मैं यूं ही जी रहा हूं—आत्मा से तो उसी पल मर चुका जबकि आत्मीयों और परिजनों को मारकर यह राज्य, सत्ता प्राप्त की थी ![1]

वे सब घबरा उठे हैं युधिष्ठिर की मनःस्थिनि से। डरकर कभी भीम, कभी अर्जुन और कभी द्रौपदी प्रश्न कर बैठती है—"ऐसा क्यों अनुभव करते हैं राजन् ?··· यह युद्ध तो न्याय के लिए हुआ था। कौरवों के अधर्म से बाध्य होकर ही आप लोग रणभूमि में उतरे ?···अतः इसका दोषी स्वयं को क्यों मानते हैं ?"

"तुम लोग उचित ही कहते हो, पर यह कह देने से कि हमने धर्मपक्ष के लिए युद्ध लड़ा, हम युद्ध और इस महानाश के दोष से मुक्त नहीं हो जाते !"

"ऐसा क्यों महात्मन् ?···" अर्जुन ने प्रश्न किया है—"अहिंसा और शान्ति के प्रयास जब विफल हो जायें और न्याय विश्वास लड़खड़ाने लगे, "तब उसे पाने के लिए शस्त्र उठाना तो धर्म होता है भइया !···हम अपने-आपको दोषी क्यों समझें ?···दुष्टबुद्धि दुर्योधन और उसके पक्ष-धारियों का नाश केवल इस कारण हुआ क्योंकि वे निरंतर छल, कूटजाल और षड्यंत्र की रचना करते रहे। उन्होंने धर्म के विरुद्ध अधर्म की स्थापना का प्रयत्न किया !"

"यह कहते समय धनंजय, यह विस्मरण मत करना कि जिन्हें तुमने युद्ध में मारा या मरे हैं, वे तुम्हारे ही रक्त-अंश थे, तुम्हारे अपने भाई-बन्द !···उनमें से अनेक ऐसे थे, जिन्होंने अब तक संसार और जीवन को तनिक भी नहीं भोगा था, उनका जीवजन्म वृथा हुआ, दुर्योधन की

१. महाभारत : शांतिपर्व : के ७वें अध्याय में श्लोक-क्रम १६ से २२ तक युधिष्ठिर की राज्येच्छ में विरक्ति का संवाद ।

अनीतियों के कारण जो कुछ हुआ, उसमें इस विचार से अलग कैसे रहा जा सकता है कि उनके संहार का कारण हम लोग बने हैं ?···इसलिए मेरा विचार है कि हम लोगों ने न तो उनको जीता है, न ही वे हमें जीत सके हैं !···हम दोनों ने ही एक तरह से आत्महत्या की !···एक शरीर से नष्ट हुआ, दूसरा मन से मर चुका !"

वे सब तर्कातर्क करते युधिष्ठिर के भीतर निरन्तर गति से बढ़ती जा रही वैराग्यभावना को सहेजने की चेष्टा करते रहते हैं···आये दिन इसी तरह परस्पर बहसें होती हैं, तर्क दिये-लिए जाते हैं, किन्तु युधिष्ठिर अपने भीतर जनम आये विराग से मुक्त नहीं हो पाते !···

होना चाहते हैं। भयावह महायुद्ध में विजयश्री प्राप्त करके इस आखंड भारत का साम्राज्य सुख भोगना चाहते हैं। एक आदर्श और मूल्यवादी समाज-राज की रचना करने की इच्छा भी होती है, पर इनसे कहीं अधिक वेगवती है यह इच्छा जो सोते-जागते उन्हें प्रेरित कर रही है···कुछ आवाजें हैं जो निरंतर उनके कानों में उनके अपने भीतर से उठकर गूंजती हैं···फिर गूंजती ही जाती है···

"यह सब व्यर्थ हुआ युधिष्ठिर !···मन को क्लेष देनेवाला दुःखद !···इस सबके कारण ही तुम शोकग्रस्त हो, दुःखी हो !···निकल पड़ो यहां से !···भूल जाओ यह संसार सुख, सत्तामोह, शक्ति-साधना का केन्द्र !···जाओ यहां से !"

ये आवाजें कितनी ही बार घोंट लेना चाही है मन में, पर किसी बार तनिक भी नहीं दबा सके। इसके विपरीत लगा है कि हर बार आवाजों ने ही मन को उछाल दिया है इतनी पटकनियां दी है कि युधिष्ठिर अपने ही भीतर कई-कई जग से आहत हो उठे हैं !

स्वयं से ही जान लेना चाहा है—"क्या विरक्ति का कारण केवल यह महायुद्ध भीषण संहारलीला, परिजनों का अन्त और असहनीय विगत के स्मरण-कष्ट भर हैं ?···या कुछ और ?"

बहुत कुछ। संभवतः यह सभी हैं जो युधिष्ठिर को बाध्य कर रहे हैं कि अर्थहीन को अर्थ देने की इस जीवलीला के जाल में फंस गए वह !··· परिणाम यह कि विवेकी मन को सोच के हर कदम के साथ पीड़ा हो रही

है···मर्मान्तक पीड़ा !

"किन्तु यह नियति तो हर उस साधु की होती है, अजातशत्रु जो ज्ञान-मार्ग और धर्म की राह पकड़ता है ?···क्या तुम नहीं जानते थे यह ?" मन ने सहसा ही प्रश्न कर दिया है।

"जानता था, पर कर्म से विलग कैसे हो सकता था मैं ?···कैसे नियति के उस चक्र से परे होता, जिसने माध्यम बनाकर मुझसे वह सब करवाया, जीवनपर्यंत करवाया, जिसे मैंने कभी नहीं करना चाहा ?···"

एक ठहाका उठ आया है, उनके भीतर ?···क्या सच ही ?···

युधिष्ठर उत्तरहीनता की कमजोरी अनुभव करने लगे हैं ?···"क्या सच ही मनुष्य सब कुछ नियंता की इच्छा से करता है ? केवल माध्यम भर होता है ? क्या विधि ने उसपर ऐसा कुछ भी नहीं छोड़ा है, जहां वह स्वयं निर्णय ले सकें—उस निर्णय को कार्यान्वित कर सके ?···" प्रश्न गहरी घटाओं की तरह युधिष्ठिर के मन-आकाश पर उमड़ आया है। इतना गहरा कि तर्क के हर प्रकाशित चेहरे को उनके अन्धेरे ने ढंक लिया है। इस अन्धेरे को युधिष्ठिर उसी समय थाम सकेंगे, परे कर सकेंगे, जबकि वह सत्याधारित अपने भीतर खोज लेंगे···और जब उत्तर देना होगा तब एक बार फिर विगत चीखता, चिंघाड़ता हुआ सामने आ खड़ा होगा ! उसकी अनेकानेक घटनाएं उन्हें उत्तर मार्ग पर जाते-जाते रोककर पूछेंगी—'पहले हमारा उत्तर देना होगा युधिष्ठिर ?···क्या हमें नियंता ने घटाया या तुमने घटाया ?:'

अनेक घटनाएं हैं, किन्तु जिस घटना का युधिष्ठिर कभी अपने भीतर उत्तर नहीं खोज पाएंगे, वह है···द्रौपदी के चीर-हरण का दोष !···

"क्या वह भी नियति-क्रम था धर्मराज ?···उसमें तुम कहीं दोषी न थे ?" सत्य की राह रोककर विगत फिर से आ खड़ा हुआ है।

□□

ऋषिगण आशीष देकर चले गए थे। युधिष्ठिर फिर से अपने एकांत कक्ष में आ बैठे। कुछ समय पहले भाइयों और पत्नी से राज्य करें या न करें, इस बात को लेकर देर तक तर्कातर्क होते रहे थे। युधिष्ठिर अपनी ओर से स्पष्ट कह आए थे—"अब इस दुःख के दलदल में पैर नहीं फंसाऊंगा

मैं !…" उन्होंने अर्जुन और भीम पर राज्य करने की सलाह दी थी। स्वयं के लिए बोले थे—"अब मैं इस वेदनापूर्ण जीवन-जाल से मुक्ति पा लूंगा, भाई !…त्याग का मार्ग पकड़ूंगा। वेदों में लिखा है कि त्यागी लोगों के पाप नष्ट हो जाते हैं और जीवन-मरण के क्रम से भी मुक्ति पा लेते हैं। अतः मैं मोक्षमार्ग पर ही चलूंगा…तुम यह राज्य संभालो !"

बहुत कुछ कहना चाहते थे भाई, बहुत कुछ कहा भी था, किन्तु खिन्न मन युधिष्ठिर ने सुना-अनसुना कर दिया। उखड़े मन से अपने कक्ष में लौट आए थे। रह-रहकर निरंतर अनुभव हो रहा था कि वन की राह लिए बिना प्रतिफल होने वाले विगत-स्मरण की पीड़ा से पीछा नहीं छूटने वाला !…

बहुत चाहा था कि सबकुछ नियति-चक्र पर थोप दें और पल-भर के लिए ही सही, किन्तु मन को हलका कर लें—

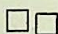
वैसे हो नहीं पाया…किसी क्षण नहीं हो पाया।

पलंग पर लेटे, पलकें मूंदीं। कुछ पलों के लिए अन्धेरे में गुम जाना चाहा, पर मुक्ति नहीं।

लग रहा था कि पल-भर पहले भाइयों से विदा लेकर लौटते समय जो स्मरण मन में कौंधा था, वही दृश्य-रूप में सामने आ खड़ा हुआ है…

द्रौपदी का चीरहरण !…नियंता के माध्यम युधिष्ठिर !…

या युधिष्ठिर के कारण घटी घटना ?…



एक के बाद एक पासे फिंक रहे थे…

शकुनि सामने। सभा स्तब्ध। हर चेहरा पिटा हुआ। हर आंख आगत के भय से आतंकित।

पर बहुतेरीं आंखें थीं जो उस अपमानलीला के हर पल में कौंधकर हंस रही थीं। अनेके लोग मुखर भी !…दुर्योधन और उसके भाई !… मामा शकुनि। एक सीमा तक राजा धृतराष्ट्र भी।

राज्य, धन, सेना, सेवक, राजमहल सभी कुछ दांव पर लग चुके थे। हर दांव गान्धारराज के हाथ आया था ! हर दांव युधिष्ठिर के हाथों से फिसलकर दुर्योधन के चरणों में जा गिरा !

भीम जबड़े कसते, तिलमिलाते, पर बाध्य भाव से किसी बार बच्चों की तरह रुआंसे हो चुके नकुल-सहदेव को देखते, कभी धर्नुधारी अर्जुन को। अर्जुन का तेज डूबता हुआ। लग रहा था कि गांडीवधारी के हाथ रह-रहकर कांपते हैं···बदन थरथरा उठता है !

गान्धारराज निरन्तर उत्तेजित कर रहे थे—"···यह दांव भी मेरा हो चुका, युधिष्ठिर ?···अब !"

और अब ?···यह अब युधिष्ठिर की प्रशंसा बन गई थी या अपमान—नहीं याद है, उस समय केवल यही लगा था कि गान्धारराज चुनौती दे रहे हैं !···और चुनौतियां झेलना युधिष्ठिर का स्वभाव नहीं ! किसी भी राजपुरुष का स्वभाव नहीं !···

बदहवास होकर यहां-वहां देखने लगते, तब शकुनि ही सलाह दे देते थे—"अभी पशुधन शेष है···पांडुपुत्र ! वह लगाओ !"

और चौसर के एक छोटे-से चौखाने पर हजारों पशुओं को कैद कर दिया था युधिष्ठिर ने—"ठीक है !···मैं अपने असंख्य, हाथी, घोड़े, गायें, बैल आदि सभी पशुधन लगाता हूं !"

"तो, लो !···" शकुनि का हाथ हिला, पासे खड़खड़ाये और चौसर के पास आ गिरे !···

एक कोलाहल हुआ—"यह भी गया धर्मराज !···अब ?"

अकुलाकर विदुर बड़बड़ाये थे—"बस-बस !···बहुत हुआ यह खेल ! बन्द करो ! यह सब कुलनाश का आयोजन है। हर दांव कुरुराज्य के सुख-शांति और वैभव का अन्त !···"

पर कौन सुने ! दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन, कर्ण सभी के ठहाके इतनी जोर से उठ रहे थे कि उनमें नीति, बुद्धि की बात गुम हो जाती !···फिर नीति और बुद्धि तो उसी क्षण गुम हो चुकी थी, जब चौसर के दांव पर राज्य और श्रम-शक्ति लगने लगी !···और उस समय उस सबका क्या अर्थ जब स्वयं धर्मराज ही चौसर पर दांव लगाने बैठे हों ?···

गान्धारराज शकुनि ने कुटिलता से दाढ़ी पर हाथ लगाते हुए हंसकर प्रश्न किया था, "अब अगला दांव लगाओ कुन्तीपुत्र ?···

युधिष्ठिर ने भाइयों की ओर देखा। वे आसपास बैठे थे। सबके सिर

झुके हुए, सबके शरीर सिहरते हुए !···भीम के बाजुओं पर मांस रह-रहकर अकड़ता, इठता हुआ···

तभी सलाह आई थी—"अब बचा क्या है पांडुपुत्र के पास ?···युधिष्ठिर सब कुछ तो हार चुके !···"

"बहुत कुछ बचा है युधिष्ठिर !···"सहसा गान्धारराज ने सलाह दी थी—"अभी तो तुम स्वयं शेष हो । तुम्हारे भाई अब तक स्वतन्त्र हैं ?"

"हां-हां !···शेष हैं !" दुर्योधन ने कहा था—"पर निराश हो चुके धर्मराज में अब साहस नहीं रह गया है कि वह खेलें ?···"

युधिष्ठिर ने जबड़े कसे—उत्तेजित हो गए ! चुनौती ने तिलमिला डाला था उनके राजत्व को ?···राजत्व को या विवेकहीनता को ?···उस पल युधिष्ठिर कितने सामान्य, एक सीमा तक जड़बुद्धि की भांति विवेकहीन निर्णय लेते गए थे ? अब याद करने से आश्चर्य होता है ।

युधिष्ठिर ने पागलों की तरह कहा था—"हां, ठीक है !···मैं अपने प्रिय भाई नकुल को दांव पर लगाता हूं !···पास फेंकिए, गान्धारराज !"

पासे फिंके ! नकुल हार दिए गए !

युधिष्ठिर का मन हो आया था कि रो पड़े···इतनी पराजय, इतना अपमान और ऐसा कष्ट तो कभी नहीं हुआ था उन्हें ?···एक बार नहीं, अनेक बार एक धारा की तरह विचार मन में जनमा था कि चौसर की इस बिछात से उठ पड़ें, किन्तु जाने कौन-सी शक्ति थी उनके भीतर, जिसने उन्हें बांधकर रख दिया था !···उनका अहं ? राजगौरव ?···जिद ?···या अविवेक !

जिस तरह धार जैसा विचार उमड़ता था, उसी तरह युधिष्ठिर की उत्तेजना आग की तरह उबलती । धार को पी जाती !···विचारशून्य कर डालती !

शकुनि की ओर से निरंतर उत्तेजन आ रहा था—"अब ?···"

उस बार सहदेव को लगा दिया था दांव पर !···वह भी गया । युधिष्ठिर ने फिर से उठ जाने का विचार किया, पर तभी शकुनी बोले थे—"लो, युधिष्ठिर ! माद्री के दोनों बेटे भी दुर्योधन को मिले !···अब संभवतः तुम कुछ नहीं लगाना चाहोगे ?"

युधिष्ठिर ने कौंधती दृष्टि से सुबलपुत्र को देखा ।

शकुनि ने बेहद काइयांपन से बात पूरी की—"भला अपने सगे भाई तुम किस तरह दांव पर लगा सकोगे धर्मराज ?···ये भीम और अर्जुन ?"

युधिष्ठिर उत्तेजना की आग से झुलस उठे । उन्होंने क्रमशः भीम, अर्जुन यहां तक की स्वयं को भी हार दिया था ! माथा थामकर बैठ गए ।

"धिक्कार !···धिक्कार है धर्मराज !···यह सब तुम क्या कर बैठे···?" बातें सभाभवन से उछल रही थीं । किसी ओर से केवल सहानुभूति के वचन उभरते और किसी ओर से तिरस्कार !

युधिष्ठि निराशा के दलदल में गहरे तक उत्तर चुके थे । चारों भाइयों को कुछ पलों में उन्होंने राजा से रंक बना छोड़ा था !···दुर्योधन का दास !

□□

"अब ?···" शकुनि ने एक नजर दुर्योधन पर डाली, फिर चेहरा धृतराष्ट्र की ओर घुमा लिया । पासे हाथ में मचल रहे थे उसके । युधिष्ठिर माथा थामे चौसर पर देखते हुए !

धृतराष्ट्र की अन्धी आंखों में पुतलियां थिरकती हुईं । संभवतः बेटे ने बड़ी आसानी से सब कुछ पा लिया है । हर्ष से थिरक उठी थीं पुतलियां ।

"बोलो, कुन्तीपुत्र ?···चुप क्यों हो ?" शकुनि ने उन्हें पुनः उत्तेजित किया था··· "अब क्या लगाते हो दांव पर ?"

युधिष्ठिर ने बेबसी और पीड़ा से भरा अपना चेहरा उठाया—मामा की आंख में आंखें डाल दीं । यह आंखें जैसे पूछ रही थीं—"अब मेरे पास बचा ही क्या है गान्धरराज ?"

और शकुनि ने एक तीखी, चुनौतीभरी मुसकान चेहरे पर उगाकर कहा था—"अभी तो तुम्हारे पास धन शेष हैं युधिष्ठिर ! तुम चाहो तो उसे दांव पर लगाकर उसकी प्राप्ति के साथ-साथ दासत्व से भी छुटकारा पा सकते हो ?"

"सो क्या ?···" यह पूछने की आवश्यकता नहीं थी । याद हो आया था उन्हें ! द्रौपदी ! एक पल के लिए भी नहीं सिहरे थे वह । सब कुछ सोच-समझकर किसी गहरे अन्धकूप में जा पड़े थे । कहा था—"ठीक है मामा !

···मैं पांडवों की प्रियतमा, अपूर्व सुन्दरी द्रुपदपुत्री को दांव पर लगाता हूं—फेंको पासा !"

शकुनि ने हर्षित होकर पासे खड़खड़ाने प्रारम्भ किये !···

युधिष्ठिर चौसर पर नजर लगाये हुए। देखा ही नहीं था उन्होंने कि उनके शेष चारों भाई कांप उठे हैं। क्रोध से या पराजय-भय से—ज्ञात नहीं, पर वे सहसा थरथरा उठे थे।

सभाभवन से एकसाथ युधिष्ठिर और सभी भाइयों के प्रति धिक्कार है !···धिक्कार है तुम जुआरियों पर !···आदि अनेक वचन पांडवों पर फिंकने लगे थे, किन्तु युधिष्ठिर ने सुना ही नहीं था कुछ।

तभी पासे फिंक गये थे। शकुनि आसन से उछलकर बोले थे—"लो, यह दांव भी मैंने जीता !"

सभाभवन में सन्नाटा फैल गया था !···कौरव हर्षित होकर तरह-तरह से चीखने लगे थे। अनेक भाई प्रसन्नतावश सभा का अनुशासन तोड़-कर मदमत्तों की तरह वहीं नाचने लगे !···युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इस तरह जड़, जैसे दावानल झुलसाकर मन-शरीर से राख कर गया हो उन्हें !···

देर तक फैले रहे सन्नाटे में केवल दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन और कर्ण आदि की उपेक्षाभरी हंसी, ठहाके और बड़बड़ाहटें ही गूंजी थीं। युधिष्ठिर को याद नहीं कि क्या प्रतिक्रिया हुई होगी उस पल भीष्म, विदुर, आदि पर !···

और स्वयं द्रौपदी ?

सिर धुन लेना चाहा था उसी पल, किन्तु बेबस बैठे रहे। आश्चर्य हो रहा था उन्हें ? कौन-सी निर्लज्ज शक्ति है जो उनके शरीर में प्राण रखे हुए हैं ?···एक बार इच्छा हुई थी कि भाइयों की ओर देख लें—किन्तु उतना आत्मबल और साहस भी तो शेष नहीं रहा था धर्मराज में ?

"याद है···सब याद है !···इसे कभी नहीं भूल सकेंगे !···जिस पल राज्यसिंहासन पर बैठेंगे, उस पल निरन्तर याद आता रहेगा उन्हें कि वह उसी सभाभवन में बैठे हैं, जहां उन्होंने द्रौपदी को दांव पर लगाया था !···

एक लम्बी चर्चा छिड़ गई थी विद्वज्जनों में। सभाभवन वृद्धों की तड़पन और बेचैन खीझ से भर उठा था। धर्माधर्म पर बहसें होने लगी थीं और युधिष्ठिर चुप।

आश्चर्य !···वह युधिष्ठिर चुप, जो धर्म-मूल्यों को लेकर अपने प्रत्येक शब्द में समाज द्वारा स्वीकारे जाते रहे ?···श्रद्धा जिनके चरणों पर हर दृष्टि में फूल की तरह झरती रही ?···वही युधिष्ठिर चुप !

चुप ही नहीं—अपराधी !···घिनौने अपराधी !

लगा था कि पीठ में कई जहरीले कीड़े काटने लगे हैं। तिलमिलाकर उठ बैठे। कक्ष में सन्नाटा था—कोई नहीं है !···

कौन कहता है कि कोई नहीं है ! युधिष्ठिर ने बेचैनी से नजरें उस खोखले और खालीपन में घुमानी प्रारंभ कर दीं—लगा था कि हर तरफ वह खुद खड़े हैं। स्वयं को ही धिक्कारते हुए !···

युधिष्ठिर !···किस अधिकार से तुमने द्रौपदी को दांव पर लगाया था ?

"स्त्री धन होती है।" कह देना चाहा था उन्होंने।

"छि: !" सामने खड़े युधिष्ठिर घृणा से उत्तर दे रहे हैं—"धर्मराज और असत्य ?···मूल्यों की रचना करने वाला उन्हें समाज में प्रतिष्ठित करने वाला यह कह सकना है ?···धिक्कार है !···"

"किन्तु परम्परा यही थी···स्त्री को धन ही माना गया···!" अकुलाकर कह देना चाहा है युधिष्ठिर ने।

"पर तुम जानते थे युधिष्ठिर कि स्त्री धन नहीं है !···बुद्धि-विवेक-युक्त जीवन किसी का धन नहीं हो सकता ?···उसकी सत्ता स्वतंत्र होती है। इस स्वतंत्रता को समाज-मूल्य हर जीवन की तरह एक निश्चित अनुशासन में अवश्य बांधे रख सकते हैं !"

युधिष्ठिर चुप हो रहे हैं।

सब, कुछ फिर से दृष्टि के सामने घटता हुआ···द्रौपदी को रजस्वला स्थिति में ही सभाभवन में बुलाया जाना, उसका सार्वजनिक रूप से अपमान !···इस सीमा तक अपमान कि वस्त्र-हरण के पूर्व शब्दों ने ही उसे लगभग नग्न कर डाला था !···वे घिनौनी दृष्टियां !···तिलमिला डालने

वाली हंसी !…दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण के परस्पर कथन !…

छिः !…छिः !…सहसा कान बन्द करके बैठ गये हैं युधिष्ठिर ! उसे कैसे भूलें ?…

कान बन्द करके क्या उन गूंजों को अनसुना कर सकेंगे, जो सांस रहते तक उनके कानों में गूंजती रहेंगी ?…

आंखों पर चढ़ी पलकें क्या द्रौपदी की आंखें, बेबस नजरें, बार-बार बचाने के लिए फैले हाथों का वह पीड़ाजनक दृश्य भुला सकेंगी ?

असंभव !…

और उससे भी अधिक असम्भव है—द्रौपदी के उस प्रश्न का उत्तर देना, जो उसने भरी सभा में उस समय भिजवाया था, जब प्रतिकामी को उसे बुला लाने के लिए भेजा गया था !…

□□

प्रतिकामी ने लौटकर सभाभवन में युधिष्ठिर से प्रश्न किया था—"महाराज ! पांडवपत्नी द्रौपदी ने पूछवाया है कि आपने अपने-आपको किसका स्वामी समझकर उन्हें हार दिया है ?…और यह भी कि आपने पहले अपने को हारा है या उन्हें ?"

और युधिष्ठिर चुप। शिलावत। सहमे हुए केवल पास बैठे भीम की तेज होती जाती श्वांसों के स्वर सुन पा रहे थे।

प्रतिकामी ने पुनः पूछा था—"उन्हें क्या उत्तर दूं राजन् ?"

युधिष्ठिर क्या उतर देंगे ?…कभी उत्तर नहीं दे सकेंगे !…

दुःशासन उन्मत्त भाव से द्रौपदी को सभाभवन में ले आया था। बड़े-बूढ़ों को धिक्कारती, पांडुपुत्रों को घृणा से देखती हुई द्रौपदी पीड़ा और कष्ट से भरकर बहुत से नैतिक तर्क करती रही थीं। पर हर तर्क व्यर्थ !…

धर्मधारण केवल दुविधा बनकर रह गया था ! युधिष्ठिर, जो जान रहे थे कि वह अनीति है, इस तरह शांत जैसे मर चुके हों !…शेष चारों भाई क्रोध और खीझ से भरे हुए बार-बार अपनी मुट्ठियां कसते, तिलमिलाते !…भीम ने उत्तेजित होकर कहा था—"भइया !…तुमने पांचाली के साथ जो अन्याय किया है, वह मेरे लिए असह्य है !…"

फिर उनका यह क्रोध बढ़ता ही चला गया था…इस सीमा तक जा

पहुंचा था कि वह तरह-तरह धिक्कारने लगे थे—तिलमिलाकर कह उठे थे—"सहदेव !···जा, आग ले आ !···जिन हाथों से राजा युधिष्ठिर ने यह द्यूतक्रीड़ा की है, मैं उन्हें इसी क्षण जला डालना चाहता हूं !···"[1]

अर्जुन क्रोधित भीम को संभाल रहे थे। द्रौपदी चीख रही थीं···पर सब कुछ ठंडा !···इस तरह जैसे बर्फ बनकर सारा पौरुष और ज्ञान पिघलने लगा हो।

यही हुआ था—युधिष्ठिर का !···किसी पल, किसी स्थिति में, सिर ऊपर नहीं उठ सका था···

आज तक नहीं उठा है !

तब यह सिर उसी सभाभवन में, उसी राज्य का संचालन करते हुए किस तरह उठा रह सकेगा ?···उठाये भी रहें, तब क्या शान्त होंगे युधिष्ठिर ?

कक्ष में बेचैनी से टहल रहे हैं। याद ही नहीं रहा है कि किस पल यह टहलना तेज हुआ है, किस क्षण थमता-सा लगा है और कितनी बार युधिष्ठिर ने अपने-आपको बेसुध होकर गिरते हुए बचाया है ?

इस सबसे मुक्ति पानी होगी !···और मुक्ति की एक ही राह है—राज्य न करें !···संन्यासी मन को राजभवन की दीवारों से मुक्त कराकर प्रकृति के खुले आकाश में ले चलें !···

किन्तु ले जाने देंगे ये लोग ?···लगता है कि कैद हो रहे हैं। यह कैद ही युधिष्ठिर की नियति रही है। युद्ध न चाहते हुए भी युद्ध करना पड़ा, बन्धु-बान्धव को मारना तो दूर, उनसे कटु भी नहीं बोलना चाहा था कभी वह बध की सीमा तक करना पड़ा···और अब जब राज्य नहीं करना

---

१. महाभारत : सभापर्व : के ६८वें अध्याय में भीम ने युधिष्ठिर को द्रौपदी को दांव पर लगा देने के लिए इस तरह धिक्कारा है—"···जुआरियों के घर में जो वेश्याएं होती हैं, उन्हें भी दांव पर लगाकर वह जुआ नहीं खेलते ! अपनी स्त्री की तो बात ही दूसरी है। उन वेश्याओं पर भी उन्हें दया और ममता होती है !" श्लोक-क्रम---१ से ३ तक। युधिष्ठिर निरुत्तर होते हैं।

चाहते, तब नियति-चक्र उन्हें राज्य संभालने के लिए बाध्य कर रहा है !···

और युधिष्ठिर का स्वभाव है—जिसे लेकर पहले नकारते रह, वही अन्त में स्वीकारते आये हैं। युधिष्ठिर का पूरा जीवन। नियति का यही लेख है युधिष्ठिर के भाग्य में। युद्ध नहीं चाहा, किन्तु युद्ध किया !···असत्य भाषण नहीं करना चाहा, किन्तु द्रोण की समाप्ति के लिए असत्य बोले ! ···ज़ुआ नहीं खेलना चाहा, किन्तु जुआ खेले !···

अब राज्य नहीं करना चाहते—पर राज्य करेंगे। युधिष्ठिर ने एक गहरा श्वांस लिया। कक्ष में आ लेटे। पलकें फिर से मूंद ली हैं, सो सकेंगे···

और राज्य करने के बाद क्या राज्य कर सकेंगे ?···

जिस तरह पलकें मूंदकर भी सो नहीं पा रहे हैं, संभवतः उसी तरह राज्य करके भी राज्य नहीं कर सकेंगे !···मन फिर अशांत हो उठा है !··· गहरा श्वांस लेकर जोरों से बुदबुदा पड़े थे—"हे, विश्वनियंता !"

□□

अग्रज

रामकुमार भ्रमर

□ महाभारत पर आधारित 12 खण्डों में यह एक ऐसी कथा - माला है, जो प्रत्येक श्रेणी के पाठकों का भरपूर मनोरंजन ही नहीं करती, वरन् श्रद्धा के भाव जगत में ले जाकर खड़ा कर देती है।

□ इन उपन्यास खण्डों में लेखक ने महाभारत के आए पात्रों का गहन मानवीय चित्रण किया है तथा अनेक चौंकाने वाले नये तथ्य खोजे है।

□ 'अग्रज' इस कथा - माला का पांचवां पुष्प है, जिसमें धर्मराज का अवतार माने गए युधिष्ठिर के अन्तर्द्वन्द्वों को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। वह युधिष्ठिर, जिनका सम्पूर्ण जीवन न्याय - अन्याय, उचित अनुचित का भेद करते बीता।

राजनीति के शिखर पर बैठे इस राजपुरूष ने निरंतर अपने ही भीतर युद्ध किया।

□ महाभारत के इस सम्माननीय चरित्र को भावभीनी शैली में उकेरा है आज के ख्याति नाम उपन्यासकार रामकुमार भ्रमर ने।

□ उपन्यास क्रम □

■ आरंभ - १ ■ अधिकार - ४ ■ असाध्य - ७ ■ १८दिन - १०
■ अंकुर - २ ■ अग्रज - ५ ■ असीम - ८ ■ अन्त - ११
■ आवाहन - ३ ■ आहुति - ६ ■ अनुगत - ९ ■ अनन्त - १२

भारत की सर्वप्रथम पॉकेट बुक्स



हिन्द पॉकेट बुक्स

Rs. 10 /-